मकरन्द

डॉ० बड़थ्वाल के महत्वपूर्ण, गवेषणात्मक लेखों का संग्रह

लेखक
स्व० डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्

सम्पादक
डॉ० भगीरथ मिश्र, एम० ए०, पी०-एच० डी०
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
लखनऊ

प्रकाशक—
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानदरीबा, लखनऊ

प्रथम संस्करण
मूल्य—तीन रुपया आठ आना

मुद्रक—
नव-ज्योति प्रेस,
पानदरीबा, लखनऊ

सम्पादकीय वक्तव्य

'मकरन्द' स्व० डॉ० बडथ्वाल के गवेषणापूर्ण लेखो, आलोचनात्मक विचारो तथा भावात्मक सस्मरणो का सग्रह है। उनके पुराने कागज-पत्रो के बीच जो भी प्रकाशित, मुद्रित, अप्रकाशित अथवा अर्धपूर्ण सामग्री श्री दौलतराम जुयाल एव श्री नत्थीप्रसाद जुगडाण के द्वारा प्राप्त हुई उसे सम्पादित कर इस रूप मे प्रस्तुत करने का मुझे सुयोग प्राप्त हुआ और इस प्रकार यह कृति हिन्दी ससार के सामने आ सकी है। इसमे छोटे-बडे मिलाकर तेईस लेख है जिनको किसी विशेष तारतम्य से नही सजाया जा सका है, वरन्, जैसे ही वे प्राप्त होते गये वैसे देखकर प्रेस में पहुँचाया गया है। इसी कारण गोरखनाथ के साथ चौरगीनाथ पर लिखित लेख नही आ सका और न 'संतो का सहज ज्ञान' के साथ 'हिन्दी काव्य की निरजन धारा'। इस पुस्तक तथा अन्तिम लेख का नाम मुझे ही देना पडा, क्योकि इसका कही कोई भी निर्देशन उनके लेखो में प्राप्त नही हो सका।

सग्रह मे विविध विषयो पर लेख है जिनके क्षेत्र बडे व्यापक है। वर्ण-विशेष के उच्चारण, बोली से भाषा के विकास और कतिपय साहित्यिक व्यक्तियो के सस्मरणो से लेकर, सिद्धो और नाथो की रचना और प्रभाव तथा निरजनी कवियो के विवरण के प्रसग तक इसमें सम्मिलित है। अतः समय और विषय-भूमि दोनो के क्षेत्रो का विस्तार बडा ही व्यापक है। साथ-ही-साथ आकार की दृष्टि से भी तीन-चार पृष्ठो के निबन्धो से लेकर दस-बारह पृष्ठो के निबन्ध तक इसमें संगृहीत है अत. इस दृष्टि से भी वैविध्य मे कोई कमी नही।

डा० बड़थ्वाल की लेखनी में शक्ति, प्रवाह और सरलता तीनो का ही सयोजन रहता है जो इनके अधिकाश निबन्धो मे दिखलायी देता है और जो उनके विषय के स्पष्ट ग्रहण, निर्भीक कथन एव सबल सप्रमाण अभिव्यक्ति का प्रमाण है।

डा० बड़थ्वाल का अध्ययन बडा ही विस्तृत था। इसी से वे 'ज्ञ' के

हिन्दी उच्चारण और 'मेल्णो' की जीवन-कथा जैसे निबन्धो मे सस्कृत, अपभ्रश और हिन्दी साहित्य के सुन्दर और पुष्ट उदाहरण प्रचुर मात्रा मे दे सके है। 'हमारी कला और शिक्षा' जैसे भाषण मे भी उनके विस्तृत ज्ञान, उदात्त भावना एव उच्च आदर्श का पता चलता है। वे साहित्य और सस्कृति की प्रगति मे विश्वास रखनेवाले व्यक्ति थे। जीवन मे भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति और समृद्धि-सग्रह ही सब कुछ नही, वरन् आत्मिक विकास, जिससे व्यापक मानवता की एकता का आभास होता है, जीवन का चरम ध्येय है, ऐसी उनकी आस्था थी। वे साहित्यिक तपस्वी थे और उनमे सूक्ष्म विवेचन-शक्ति थी।

डा० बडथ्वाल के सग्रहालय मे बहुमूल्य एव दुष्प्राप्य हस्तलिपियो के सग्रह थे जिन के आधार पर ही उन्होने चौरगीनाथ निरजनधारा, आदि लेखो को लिखा है। व साहित्य के यथार्थ अन्वेषक और गवेषक थे। और यही अन्वेषण और गवेषणा उनके जीवन की प्रमुख प्रेरणा रही।

अपने समय मे उठे हुए साहित्यिक विवादो और समस्याओ पर भी वे तुरन्त प्रकाश डालते थे और ऐसे लेखो मे, जिनमे कि कोई उन पर व्यक्तिगत आक्षेप कर बैठता था, उनकी लेखनी बडी ही तीक्ष्ण और सव्यग्य हो जाती थी। उसकी चुटीली और मर्मस्पर्शी भाषा का आघात बडा ही गहरा होता है। इस सग्रह के 'मूल गोसाई चरित' और 'ज्ञ का हिन्दी उच्चारण' नामक लेखो मे हमे उनकी यही शैली देखने को मिलती है। और केशवदास पर लिखे निबन्ध मे भी कही-कही वही प्रवृत्ति है। इससे स्पष्ट प्रगट होता है कि उनका भाषा पर कितना सराहनीय अधिकार था।

डा० बडथ्वाल के बहुत अधिक महत्वपूर्ण लेख वे है जो कि हिन्दी साहित्य अथवा उसके इतिहास की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते है। ऐसे लेख हमे वास्तविक मूल्याकन की दृष्टि प्रदान करते है। किसी भी कवि या लेखक की रचनाओ की आधारभूत और परपरा से आयी सस्कारगत सामग्री को जान लेन पर हम यह भ्रम नही कर सकते कि उसकी मौलिकता उसकी अपनी है जबकि उन बातो की परपरा पहले ही से मिलती है। कबीर आदि निर्गुण धारा के कवियो का यथार्थ अध्ययन और उनके पूर्व चलती हुई इसी प्रकार की धारा का सकेत करने के लिए ही उन्होने सिद्धो, नाथो आदि की रचनाओ की छान-बीन की थी। उनके इस सग्रह के लेखो में से कई लेख इसी प्रकार हिन्दी साहित्य की आधार-भूमि का सकेत करते है। 'बोली से साहित्यिक भाषा' शीर्षक उनका लेख तो खडी बोली के विकास का सक्षिप्त

इतिहास प्रस्तुत करता है । नाथ पथ मे योग, उत्तराखंड के मत्रो मे गोरखनाथ, सतो का सहज ज्ञान, चौरगीनाथ आदि, निर्गुणी संत कवियो की पूर्ववर्ती पष्ठभूमि को स्पष्ट करते है साथ ही साथ निरजन धारा, निर्गुण धारा के समक्ष समानान्तर सत-साधना की धारा को स्पष्ट करती है । ये अनेक क्षेत्र अभी तक हिन्दी के इतिहासकारो के द्वारा प्रायः पूर्ण परिचित नही है । अतः इतिहास-निर्माण मे ऐसे लेखो का बडा महत्व है ।

इसके साथ ही साथ कुछ तुलनात्मक अध्ययन भी डा० बडथ्वाल जी के बडे रोचक है । ये अध्ययन उनकी यथार्थवादी सूक्ष्म दृष्टि को तो स्पष्ट करते ही है, उनके अपने व्यापक आदर्श एव सत्य-सबन्धी कुछ अन्तर्व्याप्त नियमो पर आस्था भी प्रगट करते है, जिनका जानना निजी अनुभव का काम है । इनके आधार पर बना उनका दृष्टिकोण अपनी अलग विशेषता रखता है ।

इसके अतिरिक्त कुछ लेख इनके साहित्यकार या साहित्यसेवी व्यक्तियो को लेकर लिखे गये है जिनमे उनके कृतित्व का वास्तविक महत्त्व स्पष्ट किया गया है । इसी कोटि के अन्तर्गत साहित्यकारो के कुछ सस्मरण भी है जिनके द्वारा इन्होने अपनी भावुकता और उनके व्यक्तित्व के विश्लेषण का प्रयत्न किया है ।

यह सक्षेप में उनके निबन्धो के प्रकारो और महत्त्व का परिचय हुआ । इनमे अधिक निबन्ध है जो उस समय लिखे गये जब हमारे बीच आज की परिस्थितियाँ नही थी । न तब भारतवर्ष स्वतन्त्र ही हुआ था और न हिन्दी भाषा ही को यह मान-महत्व प्राप्त हुआ था । साथ ही साथ उनके समय से आजतक हिन्दी के अन्तर्गत शोध और खोज-कार्य भी इतना हुआ है कि उनकी धारणाएँ और मान्यताएँ यदि कुछ पुरानी जँचने लगे तो हमें आश्चर्य न होना चाहिए । इस बात का ध्यान रखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि डा० बड़थ्वाल के कथनो में सच्चाई का इतना बल था कि वे आज भी उतने पुराने नही पडे जितने अन्य उनके समकालीन विद्वानो के कथन पड़ गये है ।

डा० बड़थ्वाल विकासवाद के पक्षपाती थे, परिष्कारवाद के उतने नही । वे सतो के सहज धर्म के अवलबी थे और उनका विश्वास था कि जनजिह्वा से मँजकर, ढलकर जो शब्द हमारे बीच आते है उनका अधिक महत्व है । वे सजीव है प्रचलित है और टकसाली है । वे एक पत्थर के मूल्य को विशाल पर्वत शिला से सबधित करके आँकने में उतने प्रसन्न न होते थे जितने वे उसके नर्मदा या गडकी में प्राप्त घिसे-घिसाये रूप को जनसमुदाय-द्वारा प्रतिष्ठित और पूजित देखे जाने में होते थे । वे सहज व्यवहार को सर्वोपरि स्थान देते

थे। और साहित्य एव सस्कृति के सहजरूप को ही विकसित और प्रसारित करने के पक्षपाती थे।

डा० बडथ्वाल के भीतर सत्य के प्रति दृढ आग्रह और असत्य के प्रति रोषावेश था। वे द्वेषाभिभूत होकर दोषारोपण को सहन नही कर सकते थे; क्योकि उनका अपना निजी प्रयास सचाई की खोज ही था। इसमें वे सहयोग की अधिक और दोषदर्शन की कम आशा रखते थे। यही कारण है जिससे वे कभी-कभी अपने लेखो में क्षुब्ध से दीखते थे। इस प्रकार डा० बडथ्वाल के रूप में एक साहित्यिक तपस्वी अपनी साधना कर रहा था। इन छोटे-छोटे अध्ययनो के आधार पर उनका कार्य समस्त हिन्दी साहित्य का भूमिशोधन कर उसका वास्तविक इतिहास-निर्माण करना था। आज भी हमारे लिए उनकी लगन, उनकी तपस्या, उनका आवेश और उनकी सेवा अनुकरणीय है।

भगीरथ मिश्र

विषय-सूची

बोली से साहित्यिक भाषा

भाषा फूलती-फलती तो है साहित्य में, पर अँकुरती है बोलचाल मे। साधारण बोलचाल की बोली ही मँज-मुधर कर साहित्यिक भाषा बन जाती है। भाषा भाषण से बनती है। कोई भी भाषा चाहे उसका साहित्य कितना ही बढा-चढा क्यो न हो ऐसी नही जो मूल रूप मे बोली न रही हो।

हिंदी भी किसी समय बोली ही रही होगी। कैसे वह धीरे धीरे साहित्यिक भाषा बन गई, इसकी कथा होगी तो मनोरजक, पर हम उसे पूरी पूरी जान नही सकते। बोल-चाल की बातें इतनी साधारण समझी जाती है कि उनको सुरक्षित रखने की चिन्ता किसी को नही होती। इसलिए बोली का कोई लेखा नहीं हो पाता। और ज्यो ही बोलने का लेखा आरभ होने लगता है त्यो ही उसको साहित्यिक रूप मिलने लगता है। हिंदी जब बोली ही थी तब क्या रूप था, यह ठीक ठीक जानना कठिन है। हाँ, यह भी कहा जा सकता है कि सभवत. ईसवी सन् ७७८ के पहले से वह बोली जाती रही है। इस सन् मे दाक्षिण्याचार्य चिन्होद्योतन ने "कुवलयमाला कथा" लिखी। उसमें एक हाट का उल्लेख है जिसमे आये हुए देश देश के बनिये अपनी अपनी बोली में अपना अपना माल बेचने का यत्न करते है। लेखक सब बोलियो का जाननेवाला तो था नही, जिस बोली की जैसी भनक उसके कान मे पड़ी होगी उसने वैसे ही उसे उस देश के बनिये के मुँह में रख दिया। मध्यदेश से आये हुए बनिये के मुँह से उसने 'तेरे मेरे आउ, कहलाया है। –'तेरे मेरे आउ' त्ति जम्पिरे मज्झ देसेय। 'तेरे मेरे आउ' गठा हुआ वाक्य नही है। हो सकता है कि ये शब्द भी लेखक के लिए ध्वनि मात्र हो। फिर भी इस ध्वनि में हिन्दी के दो सर्वनाम 'तेरे' 'मेरे' और एक क्रियापद 'आउ' का साफ सुनाई देना इस बात का पता देता है कि उस समय भी मध्य देश में हिन्दी बोली जाती थी। मध्य देश की सीमा हिमालय से लेकर विंध्य तक और जयपुर से लेकर प्रयाग तक थी। यह आज भी हिन्दीभाषी प्रदेश है।

इससे पहले संस्कृत और प्राकृत से भिन्न देश भाषा का उल्लेख दूसरी-तीसरी शती के नाट्य-शास्त्र में, पाँचवीं शती की बनी नारद-स्मृति में और सातवीं शती के हर्ष-चरित्र में हुआ। परंतु इन ग्रन्थो में देश भाषा का अर्थ अपभ्रंश है या हिन्दी यह कहना कठिन है।

नवीं दसवीं शती में जब धर्मप्रचारको को नीचे से नीचे लोगो तक अपना सँदेशा पहुँचाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ तब उस समय की साहित्यिक भाषाओ पर देशी बोली ने प्रत्याघात करना शुरू किया और हिन्दी अपना सिर उठाने लगी। पश्चिम में जैन लोगो और पूरब में वज्रयानी सिद्धो की अपभ्रंश की रचनाओ में जहाँ-तहाँ हिन्दी की बोली झलकने लगी। कुछ उदाहरण लीजिये .

सरहपा—

जहँ मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
नहि बट चित्त बिसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ।।

लुईपा—

काआ तरुवर पंच विडाल, चचल चीए पइठो काल।
दिढ करिअ महा सुह परिमाण, लुइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।।

ये सिद्ध आठवीं-नवीं शताब्दी के माने जाते है। दसवी से इधर के तो ये निश्चय ही नहीं है।

जैन पडित देवसेन सूरि ने ई० ९९० के लगभग लिखा है:—

जो जिन सासण भासियउ, सो मइ कहियउ सारु।
जा पाले सइ भाउ करि, सो तरि पावइ पारु।।

११०० ई० के लगभग जिनदत्त सूरि ने 'जो' 'सो' सर्वनाम, थोडा घरि, बेट्टा-बेट्टी, खड्डुह, बाहिर, सयाणा, बुहारी आदि शब्दों, दीसहि, लहइ, करइ-पडइ चडावइ, पढहि-गुणहि आदि क्रियापदो का प्रयोग किया है। कुछ पदो के तो उसने ऐसे प्रयोग किये है जो शुद्ध देशी है, सस्कृत परम्परा से जिनका सम्बन्ध घटित ही नहीं किया जा सकता जैसे 'झगडहि'—तहवि न धम्मिय विहि विणु झगडहि। ११०० ई० के आसपास प्रयुक्त होनेवाले अपभ्रंश साहित्य में देशी शब्दो का प्रयोग इतना अधिक होने लगा कि हेमचन्द्र को 'देशी नाममाला' मे उनको संग्रह करने की सूझी।

बारहवीं-तेरहवीं शती मे तो बोली ने इतना जोर पकडा कि उस समय के जैन ग्रन्थकारो की सस्कृत पर उसका प्रभाव पडने लगा। ये लोग सोचते

थे बोली में और लिखते थे सस्कृत में । इसलिए बोली के कुछ प्रयोग थोड़ा सा रूप बदल कर उनकी सस्कृत में आ गये । जैसे न्योछावर के लिए न्युञ्छन्, छुआ के लिए छुप्तवान्, भेटा के लिए भेटितः और धाड़ा मारने (डाका डालने) के लिए धाटी-प्रयात ।

चौदहवी शती के अत के लगभग जब विद्यापति ने देखा कि साधारण जनता को देशी बोली ही मीठी लगती है तो उन्होने अवहट्ट में कीर्तिलता लिखी, जिसमें देशी बोली का बहुत प्रयोग हुआ—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा । तॅ तैसन जम्पउ अवहट्ठा ।।

यहाँ तक आते-आते तो जान पडता है कि हिंदी साहित्यिक भाषा हो चली थी । वह इतनी पुष्ट हो गई थी कि उसकी प्रशसा करते हुए १३५० के लगभग अमीर खुसरो ने लिखा कि हिंदी में मिलावट नही खपती और उसका व्याकरण नियमबद्ध है । इसलिए वह अरबी की बराबरी की है । स्वय अपनी हिंदी पर खुसरो को बडा नाज़ था ।

ग्रथो में लिखा मिलता है कि पुष्य कवि ने ७१५ मे अलकार शास्त्र को भाषा दोहरो में लिखा । ८७० के लगभग अब्दुल्ला ऐराकी ने कुरान का हिंदी में तर्जुमा किया, ६०० के लगभग मसऊद साद सलमा ने हिंदी का एक दीवान लिखा और १०१३ में कालिजर के राजा नद ने सुलतान महमूद की प्रशसा में एक हिंदी शेर लिख कर भेजा । इन रचनाओ के कोई नमूने आज नही मिलते, इसलिए नही कह सकते कि जिसे हम हिंदी कहते है, उससे उनका क्या सम्बन्ध था । ११६० मे रचे गये चद के पृथ्वीराजरासो में भी इतनी मिलावट हो गई है कि उसके मूल रूप का पता लगाना कठिन हो गया है । परन्तु खुसरो के नाम से आज जो कविता मिलती है उसमें चाहे कितना ही परिवर्तन क्यो न हो गया हो निश्चय ही मूलरूप में वह वही भाषा थी जिसे हम आज हिंदी कहते है :—

श्याम बरन की एक है नारी । माथे ऊपर लागे प्यारी ।।
या का अरथ जो कोई खोलै । कुत्ते की वह बोली बोलै ।।

अब तो हिन्दी के भीतर ब्रज, अवधी और खडी बोली के अलग अलग साहित्य है । परन्तु अनुमान होता है कि आरभ मे हिंदी का मध्य देश भर मे एक सर्वग्राह्य रूप प्रचलित रहा होगा, जिस में खडी, ब्रज आदि के रूप छिपे रहे होगे । गोरख, जलधर, चौरंगी, कणेरी आदि योगियो के नाम से जो 'बानी' मिलती है सभवतः उससे हम उस भाषा का कुछ अनुमान लगा सकते है ।

गोरख—अदेखि देखिबा, देखि विचारिबा' अदिसिहि राखिबा चीया ।
पाताल की गगा ब्रह्माण्ड चढाइबा, तहाँ विमल विमल जल पीया ।।
चोरगी—माली लौ भल माली लौ, सीचै सहज कियारी ।
उनमनि कला एक पहुप निपाइले, आवागमन निवारी ।।
कणोरी—हस्यो कणोरी हरिख मै, एकलडो आरन्न ।
जुरा विछोही जो मरण, मरण विछौह्या मन्न ।।

जिस रूप मे ये बानियाँ मिलती है, उस रूप मे विद्वानो ने उन्हें १४वीं शती की रचना माना है, यद्यपि जिनके नाम से ये मिलती है वे निस्सन्देह १४वीं शती से बहुत पूर्व के है ।

१५वीं शती में कबीर की रचना में यही परम्परा चली आती है—

कबीर चाला जाई था, आगै मिल्या खुदाइ ।
मीराँ मुझस् यू कह्या किन फुरमाई गाइ ।।

नामदेव, मीरा, रैदास आदि मध्यदेशी और बाहरी साधु-सतो में भी प्राय: भाषा का यही स्वरूप दिखाई देता है । किसी एक जगह से मोह न रखने वाले रमते साधुओ की वाणी मे भाषा के सर्वग्राह्य स्वरूप का आना स्वाभाविक भी था ।

किन्तु आगे चल कर साहित्य मे हिन्दी की तीनो प्रधान बोलियो—ब्रज, अवधी, खडी—की अलग अलग धाराएँ दिखाई देती है । कृष्णभक्ति के अत्यत प्रचार ने ब्रजभाषा को प्रधानता दी । सूरदास सोलहीं शती के आरभ में ब्रज के सबसे बडे कवि हुए । इन अधे कवि के हृदय की आँखो ने जो आनन्द देखा उसने लोगो की आखें खोल दी । ब्रजभाषा में भक्ति का सोता बह चला । नन्ददास, परमानन्द, कुंभनदास, हितहरिवंश, हरिराम व्यास आदि कवियो की भक्तिरस मे सनी मधुर वाणी ने उसे मिठास से भर दिया । रसखान आदि मुसलमान भक्तो ने भी उसमे योग दिया । मध्यप्रदेश मे ही नही समस्त उत्तर भारत में उसका बोल बाला हो गया । बगाल में चण्डीदास, गुजरात मे नरसी मेहता और महाराष्ट्र मे तुकाराम आदि सन्तो ने ब्रज-भाषा मे कविता करके अपने आपको धन्य माना और वह एक प्रकार से उत्तर भारत की धार्मिक भाषा हो गई । फिर शृगार काव्य ने उसमें नया रस डाला । केशव और चितामणि के काव्य से इसकी जो धारा छूटी वह मतिराम, बिहारी, देव, सेनापति, घनानद, पद्माकर आदि के काव्य मे १९ वी शती तक बहती रही । इस प्रकार ब्रजभाषा का खूब शृगार-अलकार हुआ । भूषण ने उसमे वीर रस की पुट दी । ब्रजभाषा

का गद्य भी खूब विकसा। 'चकत्ता की पातस्याही" आदि संक्षिप्त इतिहास ग्रन्थ, कथावार्ताएँ तथा अन्य धार्मिक साहित्य उसमे प्रस्तुत हुआ। ब्रज यहाँ तक सर्वप्रिय हुई कि बगाल में ब्रजबूली नाम से उसका एक अलग रूप चल पडा जो कृत्रिम होने पर भी उसका महत्त्व बतलाता है।

अवधी में अधिकतर प्रबन्ध काव्य ही अच्छे बने। इस प्रबन्ध साहित्य के बनाने में मुसलमानो का काफी हाथ रहा है। कुतबन की मृगावती (१५००) जायसी (१५५०) की पद्मावत, शेख नबी (१६२०) का ज्ञानदीप और नूरमुहम्मद (१७४४) की इंद्रावती आदि इसके प्रमाण हैं। परन्तु अवधी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हुआ गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित-मानस'—जो हिन्दी का भी सर्वोत्तम और सब से अधिक प्रिय ग्रन्थ है और ससार के गिने-चुने चोटी के ग्रन्थो मे गिना जाता है। जीवन के उच्च आदर्श के साथ, भाषा की जो प्राजलता, अर्थ की जो सूक्ष्मता, प्रयोगो का जो औचित्य और भावो का जो लालित्य इस ग्रन्थ मे दिखाई दिया वह ससार के बहुत कम ग्रंथो मे मिल सकता है।

खडी बोली का रूप प्राचीन अपभ्रंश की कविता में कुछ कुछ दिखाई दिया। किन्तु उसके सब से पहले कवि अमीर खुसरो माने जा सकते हैं। मुसलमानी अमलदारी के एक हजार वर्षो तक वह अधिकतर मुसलमानो के ही हाथो पली। हिन्दुओ में से केवल गंगा भाट ने अकबर के समय में "चन्द छद बरनन की महिमा" गद्य में लिखी और शीतल ने १७२३ के लग-भग चटकीली कविता की। अमीर खुसरो की खडीबोली शुद्ध खडीबोली थी। पर फारसी तबीयतदारी को देशी बोल-चाल में भरने की इच्छा ने रेखते को जन्म दिया। फारसी भावों के साथ फारसी भाषा का आना स्वाभाविक था। पर कुछ मुसलमान कवियो का यह प्रयत्न रहा कि रेखता शुद्ध देशी रूप में रहे। सन् १५८० के लगभग गोलकुण्डा के मुहम्मद कुली कुतुब शाह की कविता मे यह बात कुछ कुछ दिखाई दी।

तुम बिन रहा न जावै। अन नीर कछु न भावै॥
बिरहा किता सतावै। मन सेति मन मिला दो।

वली (१७२०) सौदा (१७४०) और नजीर (१८००) को भी इसमें कुछ सफलता मिली। इंशा अल्ला (१८००) ने तो प्रतिज्ञा करके 'रानी केतकी की कहानी' कही जिसमें 'हिंदी छुट किसी बोली की पुट' ही न थी।

यदि मध्य युग की धार्मिक परिस्थिति ब्रज के अनुकूल थी तो राजनीतिक परिस्थिति खडी बोली के प्रचार मे सहायक हुई। मुसलमानो की विजय

खडी बोली की विजय सिद्ध हुई । वे जहाँ-जहाँ गये, उर्दू के रूप में उसे साथ लेते गये । परिणाम यह हुआ कि अग्रेजो के आने तक समस्त उत्तर भारत दक्खिन हैदराबाद तक में बोलचाल में उसका चलन हो गया । इसलिए समय के अनुकूल हिंदी वालो ने भी उन्नीसवीं शती के अत में खड़ी ही को साहित्य के लिए भी अपना लिया । ब्रज और अवधी के साथ उन्हें साहित्यिक सर्वस्व छोडना पड़ा । खडी बोली में उस समय भारतीय वातावरण से बेमेल फारसी ढग के प्रेम की कविता के अतिरिक्त कुछ न था । फिर भी रामचरित मानस और सूर-सागर का मोह त्याग कर उन्होने खडीबोली को अपनाया और फिर से नवीन साहित्य का निर्माण किया । और इस बात की आशा हुई कि खडी बोली के सहारे हिदू और मुसलमान दोनो हिदी हो सकेंगे ,

खड़ी बोली में बडी तेजी से साहित्य बना । अवधी और ब्रज दोनो ने उसकी अग-पुष्टि की क्योकि थोड़े से रूप-भेद से तीनो की शब्द–सम्पत्ति एक ही है । सस्कृत से भी उसे दाय में बहुत-कुछ मिला जो स्वाभाविक भी था । अरबी-फारसी से भी उसने परहेज़ नही किया । आज हिंदी प्रत्येक भाषा से शब्द लेने के लिए तैयार है परन्तु उन्हें अपने व्याकरण और उच्चारण के ढग पर ढाल कर ।

आज हिंदी का साहित्य बहुत-कुछ उन्नत हो चला है । उसमे एक से एक रत्न भरे है । उसके कई अंग भर आये है । साहित्य की कोई बारीकियाँ ऐसी नही जिन्हें हिदी अपने ढंग से व्यक्त न कर सके । फिर भी वह अपनी कमियो को जानती है । वैज्ञानिक और औद्योगिक साहित्य का अभाव उसे खटकता है । प्रगतिशील असन्तोष उसे कर्मण्य बनाये हुए है । उज्ज्वल भविष्य उसके सामने है । उसमें वह जीवनशक्ति है जिससे आवश्यकता के अनुरूप स्वय ढलती-विकसती वह अपने आदर्श लक्ष्य की ओर बिना रुकावट चली जा रही है ।‡

---

‡—२७ सितम्बर, १६३८ को लखनऊ रेडियो स्टेशन से दी गई वक्तृता ।

नाथ-पंथ में योग

नाथ-पथ शुद्ध साधना का मार्ग है। अपने सिद्धान्तो की सार्थकता उसमें यही मानी जाती है कि उनका इसी जीवन में अनुभव किया जाय। नाथ-पथ का तात्त्विक सिद्धान्त है कि परमात्मा 'केवल' है, वह भाव और अभाव दोनो के परे है। उसे न 'वस्ती' (भाव) कह सकते है न 'शून्य' (अभाव); यहाँ तक कि उसका नाम भी नहीं रक्खा जा सकता—

वस्ती न शुन्य सुन्यं न वस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर महि बालक बोलहि वाका नाँव धरहुगे कैसा ।।
(गोरख सबद)

इसी केवलावस्था तक पहुँचना जीव का मोक्ष है। साधक की दृष्टि से उतना महत्व सिद्धान्त का नहीं है जितना उस सिद्धान्त को अनुभूत-सिद्धि तक पहुँचाने वाले मार्ग का, जिसके विना सिद्धान्त की कोई सार्थकता नही। आत्मा-परमात्मा का सिद्धान्त रूप से चाहे जो संबंध माना जाय, व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति का मोक्ष उन दोनो का सम्मिलन, ऐक्य अथवा जोड़ ही कहलावेगा। इसी कारण केवल्यमोक्ष भी योग कहलाता है।* नाथ-पंथ इसी योगानुभूति तक पहुँचनेवाला 'पथ' है। उसका एकमात्र ध्येय योग की युक्ति बताना है, जिसको जाने बिना जीव पिंजरे मे सुए की तरह पराधीन है-

सप्त धातु का काया प्यंजरा ता माहि 'जुगति' बिन सूवा।
सत गुण मिलै त उबरै बाबू नहि तौ परलै हूवा।
(गोरख)

इस 'गति' मे स्वभावत प्रथम दृष्टि काया की ओर जाती है, क्योकि वही जीव की पराधीनता का प्रत्यक्ष कारण है। काया की विनश्वरता ही

*—मूलत केवल्यानुभूति ही योग कहलाती है, किन्तु लक्षणा से अनुभूति तक पहुँचानेवाले साधन भी योग कहलाते है। जन साधारण मे योग का यही लाक्षणिक प्रयोग रूढ हो गया है।—लेखक

सबसे पहले मनुष्य की परवशता प्रकट करती है, एक बृहत् प्रश्न के रूप में खड़ी होकर वही मनुष्य की अन्वेषण वृत्ति को उत्तेजित करती है। अध्यात्म की ओर प्रेरणा करनेवाली जिज्ञासा का आरम्भ इसी प्रश्न को लेकर होता है।—

आवै सगै जाय अकेला। ताथै गोरख राम रमेला।
काया हस संगि व्है आवा। जाता जोगी किनहुँ न पावा।
जीवत जग मै मुआ मसाण। प्राण पुरिस कत किया पयाण।
जामण-मरण बहुरि वियोगी। ताथै गोरख भैला योगी।

अतएव शरीर विचार से योग का आरंभ होना स्वाभाविक ही है।—

आरभ जोगी कथीला एक सार।
पिण पिण जोगी कौ सरीर विचार।

बहुत सी आध्यात्मिक प्रणालियो में शरीर शत्रु-दृष्टि से देखा जाता है और उसे नाना प्रकार से कष्ट दिया जाता है। परन्तु वस्तुत. शरीर हमारा शत्रु नही। आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे धारण किया है। यह हमारा दोष है कि हम अपने मूल उद्देश्य को भूलकर साधन को ही साध्य समझ बैठे है जिससे तामस-रूप होकर काया तमसावृत्त हो गई है। परन्तु है यह शरीर वस्तुत सत्य स्वरूप आत्मा का मंदिर।†—

यह तन साँच, साँच का घरवा। रुध्र पलट अमीरस भरवा॥
(गोरख)

इसका सदुपयोग होना चाहिए, दुरुपयोग नही। जो केवल उसे पालने-पोसने और सुख देने में लगे रहते है तथा जो केवल उसे कष्ट ही दिया करते है, दोनो ही शरीर का उपयोग नही जानते। इसीसे गुरु गोरखनाथ कहते है—

कंद्रप रूप काया का मडण अबिर्था कोई उलीचौ।
गोरख कहे सूणौ रे भोदू अरँड अमी कत सीचौ॥

इसी दुरुपयोग के कारण आत्म-भूप का यह गढ शत्रु काल के हाथ में पड गया है। अतएव आवश्यकता यह है कि काया-गढ़ को शत्रु के हाथ से लेकर उसके स्वामी को सौप दिया जाय—

---

†—यह तन साँच, साँच का घरवा।
रुध्र पलट अमी रस भरवा॥
—गोरख

(रुध्र=रुधिर)

भणत गोरख काया गढ लवा, काया गढ लेवा, जुगि जुगि जीवा।

काया पर काल का प्रभाव जरा और मृत्यु से प्रकट होता है। समय बीतने के साथ शरीर में भी परिवर्तन होता जाता है और बूढा होकर मनुष्य मर जाता है। शरीर को काल के प्रभाव से बाहर तब समझना चाहिए जब वह जरा, मृत्यु आदि विकारो से रहित होकर सदैव बालस्वरूप रहे। इसी बालस्वरूप को नाथ योगियो ने अपना लक्ष्य बनाया। इसी दृष्टि से रसेश्वर योगियो नें रस (पारा) आदि रसायनो का आविष्कार किया था। उनका विश्वास था कि शरीर मे जिन रासायनिक परिवर्तनो से जरा आती है, रसायनो के प्रयोग से व रुक जाते है और शरीर अजर हो जाता है। परन्तु रसेश्वरो का दावा सर्वाश मे सत्य नही था। रसायनो का प्रभाव स्थायी नही होता था। इसलिए नाथ योगियो ने उन्हे सिद्धि प्राप्ति में असमर्थ बतलाया—

सोनै रूपै सीझै काज। तौ कत राजा छाँडै राज।
जडी बूटी भूलै मत कोई। पहली राँड बैद की होई।
जडी बूटी अमर जे करै। तौ बैद धनतर काहे मरै।
(गोरख)

परन्तु उन्होने रसेन्द्रो के मार्ग का सर्वथा त्याग नही किया। सर्वदा के लिए न सही, कुछ काल के लिए तो वह शरीर को रोग और जरा से बचा रखते थे, अतएव जडी-बूटी इत्यादिको के द्वारा काया-कल्प करना उन्होने योग की युक्ति में सहायक माना है और यम-नियम आदि आरभिक बातो के साथ-साथ ~सका विधान किया है—

अबधू अहार तोडौ, निद्रा मोडौ, कबहुँ न होइवो रोगी।
छठै छमासे काया पलहिवा नाग बंग बनासपती जोगी॥

यही काम नेति, धौति, वस्ति, नौली आदि षट्कर्मो से होता है। कायाशुद्धि का लक्षण यह है।—

बडे बडे कूल्हे मोटे मोटे पेट। नही रे पूता गुरू से भेट।
खड खड काया निरमल नेत। भई रे पूता गुरू से भेट।

शरीर की चचलता के लिए आसनो का विधान है। योनियो के अनुरूप आसनो की भी सख्या चौरासी लाख है, परन्तु प्रधान आसन दो हैं—पद्मासन और सिद्धासन।

काल-विजय की इच्छा से बहुत प्राचीन काल से योगार्थी शरीर पर विचार

करते चले आ रहे है जिससे एक विलक्षण सूक्ष्म शरीर विज्ञान का निर्माण हुआ है और शरीर में नौ नाडी, चौसठ सधि, षट चक्र, षोडशाधार, दश वायु, कुडलिनी आदि महत्वपूर्ण तत्वो का पता लगा है। इस छोटे से लेख मे इस विज्ञान के विस्तार को स्थान नही। सार रूप मे इतना ही कहना अलम होगा कि उसके अनसार सहस्रार मे स्थित गगन-मडल (ब्रह्म-रध्र) मे औंधे मुँह का अमृत कूप है (यही चन्द्र तत्व भी कहलाता है) जिसमे से निरतर अमृत झरता रहता है। जो इस अमृत का उपयोग कर लेता है वह अजरामर हो जाता है। परन्तु युक्ति न जानने के कारण मनुष्य उसका उपयोग नही कर सकता और वह चन्द्रस्राव मूलाधार मे स्थित सूर्य तत्व के द्वारा सोख लिया जाता है—

गगन मडल मे औधा कुँवा तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होई सु भर भर पीया निगरा जाई पियासा।
(गोरख)

ऐसा जान पडता है कि रेत इस सूक्ष्म तत्व का व्यक्त रूप है। ब्रह्मचय म स्थित होनेवाले के लिए विन्दु-रक्षा इतनी आवश्यक है कि विन्दु-रक्षा का नाम ही ब्रह्मचर्य पड गया है। शरीर की दृढता के लिए भी रेतोधारण की बडी आवश्यकता है। यह तो स्पष्ट है कि विन्दु-नाश से शरीर के ऊपर काल का प्रभाव शीघ्र पडने लगता है और वह जराग्रस्त हो जाता है। नाथ योगियो ने भी विन्दु रक्षा पर विशेष जोर दिया है—

व्यदहि जोग, व्यद हा भोग । व्यदहि हरे जे चोसठि रोग।
या व्यंदका कोई जाणै भेव। सो आपै करता आपै देव।

सासारिक भोग-लिप्सा हमारे नाश का कारण है। कामिनी के निकट पुरुष वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे नदी किनारे का पेड। अपने योग-भ्रष्ट गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को उद्दिष्ट कर गोरखनाथ ने कहा था—

गुरु जी ऐसा काम न कीजै। ताथै अमी महारस छीजै ॥
नदी तीरे बिरिखा, नारी सगे पुरखा,
अलप जीवन की आसा।
मन थै उपजी मेर खिसि पडई,
ताथै कद विनासा।
गोड भये डगमग, पेट भया ढीला,
सिर बगुला की पँखियाँ।
अमी महा रस बाघणि सोख्या।

इसी से विन्दुपात से योगी अत्यन्त दुखी होता है ।

कंत गयाँ क्वँ कामिनी झूरै, विद गयाँ कूँ जोगी ।

जिस एक बूद में नर-नारी पच मरते है उसी के द्वारा सिद्ध अपनी सिद्धि साधते है—

एक बूद नर-नारी रीधा । ताहि मे सिध साधिक सीधा ।।

जो विन्दु रक्षा नहीं करता, वही योग की दृष्टि में सब से नीच है—

ग्यान का छाटा, काछ का लोहडा ।
इद्री का लडबडा, जिह्वा को फूहड़ा ।
गोरख कहै ते पारितिख चूहडा ।

अतएव योगी को शरीर ओर मन की चचलता के कारण नीचे उतरनेवाले रेत को हमेशा ऊपर चढाने का प्रयत्न करना चाहिए। योगी को ऊर्ध्वरेता होने की आवश्यकता है । नाथ-पथ में उर्ध्वरेता की बड़ी कठिन परीक्षा है–

भगि मुखि बिन्दु, अगिनि मुखि पारा । जो राखै सो गुरू हमारा ।।
बजरि करता अमरी राखे, अमरि करता नाई ।
भोग करता जे व्यद राखे, ते गोरख का भाई ।।

अमृत के आस्वादन के लिए योग ने कई युक्तियो का आविष्कार किया हैं । विपरीत-करणी-मुद्रा, जालन्धर-बध, तालु-मूल में जिह्वा पलटना, कुडलिनी-जागरण, सब इसी उद्देश्य से किये जाते हैं परन्तु श्वास-क्रिया का, विन्दु-स्थापन और अमृतोपभोग में विशेष महत्व हैं। मनष्य का जीवन, श्वास-क्रिया के ऊपर अवलबित है । जब तक साँस चलती रहती हैं तभी तक आदमी जीता है, प्राण रहते ही तक वह प्राणी हैं । श्वास-क्रिया का बन्द होना हमारे ऊपर काल की सब से बडी मार है ।

बायू बध्या सयल जग, वायू किनहुँ न बध ।
बाई विहूणा ढहि पडै, जोरै कोई न संध ।

परन्तु यदि श्वास-क्रिया के बिना भी हम जीवित रह सकें तो कहना चाहिए कि काल की मार का हमारे ऊपर कोई असर नही है । इसी से योगी प्राण-विजय को उद्दिष्ट कर प्राणायाम करता है । पूर्व प्राण-विजय 'केवल' कुभक के द्वारा सिद्ध होती है । केवल कुभक में श्वास क्रिया एकदम रोक दी जाती हैं । पूरक और रेचक की उसमें आवश्यकता नही रहती । इससे प्राण सुषुम्ना में समा जाता है–और सूर्य चन्द्र का योग सभव हो जाता है ।

प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु मात्र नहीं, दशो वायु वश मे आ जाते हैं ।

परन्तु इसके लिए शरीर में वायु के आने-जाने के सब मार्ग बद कर देना आवश्यक होता है। शरीर के रोम-रोम में नाडीमुखो का अन्त है। जिनके द्वारा शरीर में पवन आता जाता है इसी कारण कुछ योग-पथो मे भस्म धारण आवश्यक बताया गया है। किन्तु वायु के यातायात के प्रधान द्वार नौ हैं। इन नौ द्वारो को बद रखना नाथ-पथी भाषा में वायु-भक्षण के लिए अत्यत आवश्यक है--

अवधू नव घाटी रोकिलै बाट। वाई वणिजै चौसठि हाट।
काया पलटै अविचल विधा। छाया विवर जित निपजै सिधा।
सास उसास वायु कौ भछिवा, रोकि लेउ नव द्वोर।
छठै समासे काया पलटिवा। तब अनमनि जोग अपोर ॥

इस प्रकार जब वायु शरीर मे व्याप्त हो जाता है तो विन्दु स्थिर होकर अमृत का आस्वादन होता और अनाहत नाद सुनायी देने लगता है, तथा स्वयं-प्रकाश आत्म-ज्योति के दर्शन होने लगते हैं--

अवधू सहस्र नाडी पवन चलैगा कोटि झमका नादं।
बहत्तर चदा बाई संख्या किरण प्रगटी जब आद ॥

परन्तु योग-साधन केवल शारीरिक साधन नही है। बहिर्मुख वृत्ति से योग-सिद्धि प्राप्त करना असभव है। वृत्तियो का अन्तर्मुख होना, योग की बहुत बडी आवश्यकता है। अन्त शुद्धि तथा स्थिरता की योग मे प्रधानता है, काया-शोधन की सार्थकता इसी में है कि वह उन्हें प्राप्त करने में सहायक हो। अतएव बिना मन को वश में किये शरीर को वश में करने का कोई अर्थ नही।

मन, काया का केन्द्रित चेतन स्वरूप है अथवा बृहत् चेतन इन्द्रिय है जो शरीर की विभिन्न वाह्य इन्द्रियो पर शासन करता है। मन के चचल होने पर शरीर भी चचल हो उठता है और इन्द्रियाँ विषयो की ओर लपकने लगती हैं। अतएव इन्द्रियो को विषयो से उठाने के लिए मन के वहि प्रसार को समेट कर उसे आत्मतत्व की ओर प्रेरित करना चाहिए

गोरख बोलै, सुणहु रे अवधू पचौ पसर निवारी।
अपणी आतमा आप पिचोरो, सोवौ पाँव पसारी ॥

आत्मचिन्तन का सबसे बडा सहायक अजपाजाप है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया पर मन को एकाग्र करने से मन का अत्यंत निग्रह होता है। नाथ योगियो का विश्वास है कि रात-दिन में मनुष्य के इक्कीस हजार छः सौ श्वास चलते हैं। इनमें से प्रत्येक श्वास में अद्वैत भावना करना 'अजपाजाप'

कहलाता है। अजपाजाप का अभिप्राय यह है कि बिना ब्रह्म-भावना के एक भी श्वास व्यर्थ न जाय। कुछ अभ्यास हो जाने पर बिना किसी प्रयत्न के गुप्त रूप से मन में यह भावना निरंतर अपने आप हुआ करती है, यहाँ तक कि ब्रह्म-भावना उसकी चेतना का स्वरूप हो जाती है —

ऐसा जाप जपो मन लाई। सोऽहं सोऽहं अजपा गाई।
आसन दिढ करि धरो धियाना। अहनिसि सुमिरौ ब्रह्म गियाना।
नासा अग्रनिज ज्यो बाई। इडा प्यगुला मधि समाई।
छ सै सहस इकीसौ जाप। अनहद उपजै आपै आप।
बकनालि मै ऊगै सूर। रोम रोम धुनि बाजै तूर।
उलटै कमल सहस्रदल बास। भ्रमर गुफा मै ज्योति प्रकास।

साधक के इस प्रकार आत्मनिरत हो जाने से घट अवस्था सिद्ध होती है—

घटही रहिबा मन न जाई दूर। अहनिसि पीवै जोगी वारुणि सूर।
स्वाद विस्वाद बाई कालछीन। तब जाणिबा जोगी घट कालछीन।

इस प्रकार जब मन की वहिर्मुख वृत्ति नष्ट हो जाती है और साधक आत्मनिरत हो जाता है तब वह कायिक मन से ऊपर उठ जाता है और उन्मन दशा को प्राप्त हो जाता है। योग-साधना के द्वारा उसे समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। वह इच्छारूप धारण कर जहाँ चाहे वहाँ विचरण कर सकता है और उसे आत्मदेव के दर्शन प्राप्त हो सकते है —

काया गढ भीतर देव देहुरा कासी।
सहज सुभाई मिले अविनासी॥

यह 'परिचय' अवस्था कहलाती है।

परिचय जोगी उन्मन खेला।
अहिनिसि इक्ष्या करे देवता सू मेला।
षिन षिन जोगी नाना रूप।
तब जानिबा जोगी परिचय स्वरूप।

(गोरख)

सबसे अंत में 'निष्पत्ति' अवस्था आती है, जिसमें योगी की समदृष्टि हो जाती है, उसके लिए सब भेद मिट जाते है, सिद्धियो का लोभ उसे नहीं छूता और काल के प्रभाव से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व विचरण करता है। जिस काल का त्रैलोक्य के ऊपर शासन है और जो सबको ललकारता फिरता है।

ऊभा मारूँ, बैठा मारूँ, मारूँ जगत सूता।
तीन लोक मग जाल पसारचा कहाँ जायगो पूता।

निष्पत्ति योगी का निर्भय उत्तर है —

ऊभा खडौं, बैठा खंडौ, खडौ जागत सूता।
तिहुँ लोक मे रहो निरतर तौ गोरख अवधूता।

गोरख के नाम से प्राप्त सबद ग्रथ में निष्पत्ति-योगी के लक्षण यो लिखे है —

निसपति जोगी जाणिबा कैसा।
अगनी पाणी लोहा जैसा।
राजा परजा सम करि देख।
तब जानिबा जोगी निसपति का भेख।

इस सिद्धि को देनेवाले समस्त अभ्यासो का वर्णन यहाँ पर नहीं किया जा सकता। यहाँ पर केवल एक अभ्यास का उल्लेख कर देना काफी है, जिस का नाथपथ मे गोरक्ष के नाम के साथ सपर्क है।

जिस राज्य में धर्म-शासन हो, सुभिक्ष हो, प्रजा सुखी हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो, वहाँ योगार्थी निर्मल जलस्रोत के पास एकात में अपने लिए मढी बनावे, जिसमें आने-जाने के लिए एक छोटे से द्वार को छोड कर कोई छिद्र तक न हो। षटकर्मो से अपनी देह को शुद्ध कर सिद्धासन मे बैठकर खेचरी-मुद्रा के साथ 'केवल' कुंभक का बारह वर्ष तक अभ्यास करे। कहते हैं कि गोरक्षनाथ ने विशेषकर कर इसी अभ्यास से योग-सिद्धि प्राप्त की थी।

योग-युक्ति के प्रधानतया दो अग है- एक 'करनी' और दूसरा 'रहनी'। ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह 'करनी' अथवा क्रिया है। उसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथपथ में हठयोग प्रचलित है। बल्कि यह कहना चाहिए कि हठयोग का पूर्ण प्रवर्धन नाथपथ के द्वारा ही हुआ है। परन्तु हठ-योग के सबध में जनसाधारण मे गलत धारणा फैली हुई है, वे उसे हठ-धर्मी समझते हैं और बहुधा हेय भी, परन्तु किसी भी साधना-मार्ग में हठ सबसे पहली आवश्यकता है। योगसूत्र में दी हुई योग की परिभाषा मे योग का दृढत्व स्पष्ट स्वीकार किया गया है (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः)। निरोध बिना हठ के सभव नही। परन्तु साथ ही इस बात का ध्यान भी रक्खा जाता है कि मन तथा इन्द्रियो के साथ यह हठ बड़ी आसानी से किया जा सके।

करनी का यह सौकर्य रहनी के द्वारा सभव होता है। नाथ-पथ को रहनी मध्यम मार्ग कही जा सकती है। मन तथा शरीर को अधिक कष्ट देना नाथ-पथ मे विधेय नहीं है। जहाँ इन्द्रियो का दास बनकर योग साधन

असभव है, वहाँ भौतिक आवश्यकताओ के प्रति एकाएक आँख बद कर भी योगसिद्धि नही हो सकती। शरीर नष्ट किये जाने योग्य नही है। उसकी भी रक्षा होनी चाहिए, परन्तु इस रूप से कि वह हमे धर न दबावे। इसीलिए गोरखनाथ ने उपदेश दिया है ––

देव कला ते सजम रहिबा, भूत कला आहारं।
मन पवन ले उनमन धरिया, ते जोगी तत सार।

'भूतकला और देवकला' अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता दोनो का सम्यक सयोग ही नाथयोग की रहनी' का सार तत्व है। उसके बिना योगसिद्धि असभव है। उसी के अभाव से साधक के लिए नगर और कानन दोनो में कोई-न-कोई समस्या उपस्थित रहती ही है।

अवधू वनसँद जाउँ तो खुध्या वियापै।
नगरी जाउँ तो माया।
भरि भरि खाउँ तो विद वियापै।
क्यू सीझत जल व्यब की काया।

इन्ही समस्याओ को हल करने के उद्देश्य से मत्स्येन्द्र ने गोरख को उपदेश दिया था।

अवधू रहिबा हाटे बाटे रूख विरख की छाया।
तजिबा काम क्रोध तिस्ना और ससार की माया।
खाये भी मरिए अणखाये भी मरिए।
गोरख कहै पूता सजमि ही तरिए।
धाये न खाइबा भूखे न मरिबा।
अहनिसि लेबा ब्रह्म अगिनि का भेव।
हठ न करिबा, पडे न मरिबा।
यूँ बोल्या गोरख देव।।

जलधरनाथ ने भी कहा है।

थोडो खाई तो कलपै, झलपै, घणो खाई लै रोगी।
दुहूँ पखाँ की सधि विचारै ते को विरला जोगी।

योगसाधन के लिए किसी स्थान विशेष का महत्व नही, महत्व है मानसिक समस्थिति का जिसके द्वारा सयम सभव होता है और साधक मध्यम रहनी से रह सकता है और शरीर की अत्यत आवश्यक आवश्यकताओ को पूरी करता हुआ मन को वश में रखता है।

मन को वश मे रखना योग की रहनी की सबसे बडी आवश्यकता है। योग का बनना-बिगड़ना उसी पर निर्भर है। मन की अनन्त सामर्थ्य है। द्रोही होकर जो मन जीव को चौरासी के फन्दे मे डालता है सम अवस्था प्राप्त होने पर वही उससे बाहर भी निकालता है।

यहु मन सकती, यहु मन सीव। यह मन पच तत्व का जीव।
यहु मन लै जो उन्मन रहै। तौ तीनो लोक की बाथै कहै।

अतएव जब चौरंगीनाथ ने कहा था।

मारिबा तौ मन मीर मारिबा, लूटिबा पवन भण्डार।

तब उनका अभिप्राय मन के द्रोहित्व से था। द्रोही मन का मारण तभी हो सकता है जब हम उसकी रक्षा को अपना उद्देश्य बना कर चलें, एकाएक उसे कुचल ही डालने का प्रयत्न न करें। नही तो जगत के आकर्षण से उसे खींच लेना आसान काम नही है।

जोगी सो जो मन जोगवै।
बिन विलाइत राज भोगवै।
(परमसुनि)

मन की इस द्विविध रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसे खाली न रहने दिया जाय। खाली मन ही द्रोही होकर अत में बुराई करता है।

सुचै खेल चार पइसौ चेतौ रे चेतन हार।
(चुणकरनाथ)

इसलिए मन को सतत किसी-न-किसी काम पर लगाये रखना आवश्यक है। नाथ-पथियो के लिए आदेश है।

कै चलिबा पथा। कै सीबा कथा।
कै धरिबा ध्यान। कै कथिबा ज्ञान।

मन को अचंचल रखने के लिए योगी को अपने आहार-विहार मे सदैव सावधान और सयत रहना पडता है।

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणत गोरख राव।
गोरख कहै, सुणहु रे अवधू, जग मे ऐसे रहणा।
आँखे देखिबा, काने सुणिबा, मुख थै कछू न कहणा।
नाथ कहै, तुम आपा राखौ, हठ करि वाद न करणा।
यह जग है काँटे की बाडी, देखि दृष्टि पग धरणा।

इस जगत में रहते हुए भी योगी को उसमे लिप्त न होना चाहिए। क्योकि यह विकार ससार के बधन का मूल है। अतएव योगी को इन विकारो से दूर आत्मनिविष्ट होकर रहना चाहिए—

मन मे रहणा, भेद न करणा, बोलिबा अमृत बाणी।
आगि का अगिनी होइबा, अवधू आपण होईबा पाणी।

यदि थोड़े में कहना चाहें तो कह सकते है कि नाथ-पंथ की रहनी युक्ताहारविहार की रहनी है, जिसके साहचर्य से गीता के अनुसार योग की युक्ति इस ससार-दु ख का नाश करनेवाली होती है।

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
यक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु खहा।

यह कहने की आवश्यकता नही कि योगी की रहनि विरक्ति की रहनि है। वह गृहस्थाश्रमियो के लिए नही है। सासारिक अभ्युदय की प्राप्ति और आध्यात्मिक निःश्रेयस की सिद्धि दोनो एक साथ नहीं हो सकती। सासारिक अभ्युदय के लिए इतना समय देने की आवश्यकता है कि पूर्ण निःश्रेयस के लिए यथोचित अवकाश नहीं मिल सकता और नि.श्रेयस के लिए इतनी एकाग्रता की आवश्यकता है कि सासारिक धर्मों के पालन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं जा सकता। अतएव गार्हस्थ्य को त्यागे बिना योग-साधन में प्रवृत्त होना नाथ-पथियो के लिए योग की विडम्बना-मात्र है।

कलजुग मध्ये कोण जोगी बोलिये?
परजा जोगी, रहै कहाँ? गृहे गृहे?
भषै कहा? अन्न पाणी बोलै कहा?
मै तै बाणी, ऊँ नमो द्वैत्याय।
(मुकुंद भारती)

गृहस्थो के लिए भी कतिपय योग-साधनो का विधान है सही, परन्तु वह उतना नि·श्रेयस के लिए नहीं जितना अभ्युदय के लिए; क्योकि, जैसा कृष्ण-भगवान् ने कहा है, 'योग· कर्मसु कौशलम्' इसीलिए 'योगस्थ कुरुकर्माणि' का आदेश गृहस्थो के लिए भी समझना चाहिए। परन्तु पूर्ण नि श्रेयस अथवा योगसिद्धि के लिए तो गार्हस्थ्य का त्याग अत्यत आवश्यक है। इसी बात को ध्यान मे रखकर वर्णाश्रम धर्म में सन्यासाश्रम की व्यवस्था है। परन्तु सन्यासाश्रम जीवन के सध्या काल मे आता है जब कि इन्द्रिय-संयम

सामर्थ्य का नहीं, निर्बलता का सूचक होता है, वार्धक्य के कारण शिथिलांग व्यक्ति का योगी होना नाथ-पथ में उपहास की बात समझी जाती है।

पहली कीये लडका लडकी अबहि पथ मै पैठा।
बूढै चमडै भसम लगाई वज्र जती है बैठा।

(बालानाथ)

वास्तविक यती वही कहा जा सकता है जिसने आरम्भ ही जीवन बिताया है।

बालै जोवन जे नर जती। कालह काला ते नर सती।
फुरत भोजन अलप अहारी। कहै गोरख सो काया हमारी।

इसी से बुद्ध भगवान् ने अपने भिक्षुसघ को जन्म दिया था और इसी से नाथ-पथ ने भी सब आश्रमो की अवहेलना कर पूर्ण विरक्ति की व्यवस्था की है। हाँ, यह नही कहा जा सकता कि जो बूढे हो गये है, अथवा गृहस्थ रह चुके है उनके लिए नाथ-पथ कैवल्य का मार्ग नहीं खोलता। वह बाल-बृद्ध सबको कैवल्य की ओर ले जाता है। हाँ इसमें सन्देह नही कि जो जितनी जल्दी आवेगा वह उतनी ही आसानी से उस पर चल सकेगा क्योकि आत्मिक स्वस्थता के लिए शारीरिक स्वास्थ्य भी आवश्यक है।

यद्यपि योगी को सामाजिक धर्म से अलग रहना होता है, फिर भी उसको योग की सिद्धि के लिए आवश्यक है कि अन्यो के द्वारा उसका यथोचित पालन होता रहे।

बिना उसके उनका 'भूत कला आहार' भी प्राप्त नहीं हो सकता। योग-साधन के लिए जिस विघ्न-बाधा-हीनता तथा शाति की आवश्यकता होती है उसकी तो बात ही अलग है। यही कारण है कि जो राजाओ के राज्य-विभव को भी कुछ नही समझते उन योगार्थियो के लिए भी धर्मानुसार शासित राज्य में रहना प्रारंभिक आवश्यकता है।

यह सक्षेप में सब विद्याओ में श्रेष्ठ नाथो की 'काल बंचणी' विद्या है जिसके द्वारा साधक नौ द्वारो को बद कर दशम द्वार (ब्रह्मरध्र) में समाधिस्थ हो अमृत का पान कर फिर बूढ़े से बालक हो जाता है।

सुणौ हो दवल तजौ जजाल।
अमिय पीवत तब होइबा बाल।
ब्रह्म अगिनि (तै) सीचत मूलं।
फूल्या फूल कली फिर फूलं।

इस प्रकार नव-नाथ और चौरासी सिद्धा[1] हो कर वह अजरामर हो जाता है। सिद्ध योगी कभी मरता नही है, उसकी काया अमर है, इसीलिए वह समाधिस्थ किया जाता है, जलाया नहीं जाता। लोगो का विश्वास है कि भाग्यशालियो को अब भी 'बूढा बाल' 'गोरख गोपाल' दर्शन दे जाता है, यद्यपि इसका ज्ञान-दर्शन पानेवालो को बहुत देर में होता है।

---

[1]—इससे यह न समझना चाहिए कि मैं नौ नाथ, चौरासी सिद्धो का होना नही मानता।

—लेखक

संतों का सहज ज्ञान

किसी को इस बात का वास्तविक ज्ञान हो सकता है कि मनुष्य में वास्तविकता उसकी आत्मा है और यही आत्मा ब्रह्म है। परंतु 'यदयमात्मा' सोऽहं' 'सर्व खल्विद ब्रह्म' आदि वाक्यो को दुहराने से तो कुछ होता नही है। सिद्धात-कथन-मात्र तो ब्रह्मज्ञान होने का साक्षी नही है जैसा कबीरदास ने कहा है।

ऊपर की मोहि बात न भावै।
देषै गावै तो सुख पावै।*

यह 'देखना' बुद्धि और मन के द्वारा संभव नही। ब्रह्म तक इनकी गति ही नही है। जहाँ कही दर्शनशास्त्र ब्रह्मानुभूति के निकट पहुँचता है, वहीं तर्क का साथ छूट जाता है। वस्तुतः और सिद्धातो की तार्किक भ्रातियो को दूर करने के उद्देश्य से ही एक के बाद एक दर्शनशास्त्र का उदय हुआ और होता है। परंतु अभी तक ऐसी कोई शास्त्रीय योजना नहीं निकली है, जो सर्वाश मे तर्कसम्मत हो। ऐसी कोई योजना निकल भी नही सकती। इसीलिए कबीर ने कहा है दर्शनशास्त्रो की वहाँ तक पहुँच हो ही नही सकती। वे बाहर ही रह जाते है।† वस्तुत जब तक दर्शनशास्त्र बुद्धिवाद ही के आसरे तत्वज्ञान तक पहुँचने का प्रयत्न करते रहेंगे तब तक उन्हें स्वभावतया ऐसी पहेलियो का घर बना रहना पडेगा जिनको सुलझाने का उनके पास कोई उपाय नही है, जिसके लिए सिद्धातवादी उसका प्रयोग करना चाहते है।

ब्रह्मानुभवी व्यक्तियो का कथन है कि बाह्य मन और बुद्धि के पर एक और शक्ति है जिसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन द्रष्टा ऋषि और अद्वैत वेदाती इस शक्ति अथवा वृत्ति के अस्तित्व की घोषणा कब से करते आ रहे है। इसे साक्षात् ज्ञान, अनुभव ज्ञान अथवा

---

*—कबीर ग्रंथावली, पृ० १६२, २१८।

†—षट दरसन कहियत हमभषा—कबीर ग्रथावली पृ० २०१ ३३२।

अपरोक्षानुभूति कहते हैं। यही भगवद्गीता का दिव्यचक्षु है।* मुडकोप-निषद् † के अनुसार निष्कल ब्रह्म न आँखो से गृहीत होता है, न वचनो से, न तप से और न कर्म से। विशुद्ध सत्वधीर व्यक्ति उसे ज्ञान के प्रसाद से साक्षात् देखत है। ऋग्वेद के अनुसार "सदा पश्यन्तिसूरयः"‡ के आधार पर दर्शन का 'दर्शन' नाम पड़ा है। दशन, परमात्मा का दर्शन कराता है उसे साधक के अनुभति-पथ में ले आता है, बुद्धि और तर्क के सहारे समझाता भर ही नही है।

बुद्धि और तर्क के क्षेत्र को नोचे छोड कर निर्गुणी सत भी अनुभूति के इसी राज्य में प्रविष्ट होने का दावा करता है, जहाँ उसे एकमात्र परमसत्ता का साक्षात्कार होता है। यदि टेनिसन की एक पक्ति का उद्धृत करें तो कह सकते है—स्थिर सूक्ष्म गभीर सत्तत्वो की उसे सवेदना हुई होती है।+ बिना इस अनुभूति-ज्ञान के दर्शनशास्त्र एक विवादमात्र है। परतु जैसा सुन्दरदास ने कहा है—"जाके अनुभव ज्ञान, बाद में न बह्यो है।"× दूसरो से सुन-सुन कर प्राप्त हुआ ज्ञान जिसके पीछे अनुभव का सहारा नही है, झूठा है। सार वस्तु है अनुभव, जो हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब स्थूल बुद्धि से ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति के राज्य में हमारा प्रवेश हो। तभी हमे स्वानुभव से ज्ञात हो सकता है कि वस्तुतः हमारे ही भीतर ब्रह्म की सत्ता है। इसी अनुभव ज्ञान को निर्गुणी सतो ने सहजज्ञान कहा है, जिसकी ऊँचाई तक चढ जाना आध्यात्मिक क्षेत्र मे आवश्यक है। वहाँ जो पहुँच जाता है, वह ससार के प्रभाव से दूर हो जाता है।

---

*—गीता ११, ८।

†—न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा।
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्व—
स्ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

मुडक, ३, १, ८।

परिपश्यति धीरा।—वही १, १, ६।

‡—ऋग्वेद १, २२।

+—दि स्टिल् सिरीन ऐट्रेक्शन्स ही हैथ फल्ट'—"दि मिस्टिक'।

×—सुदर विलास, १६०।

हस्ती चढिया ज्ञान का सहज दुलीचा डारि ।
स्वान रूप संसार है पडचा भुषै झक मारि ॥*

दादू ने भी कहा है।

दादू सरवर सहज का तामे प्रेम तरग ।
तहँ मन झूले आतमा अपने साई सग ॥†

दादू ने सहज की कुछ और स्पष्ट व्याख्या की है। उनके शब्दो में सहज बिना अगवाले ब्रह्म को बिना आँखो के देखना, उमसे बिना जिह्वा के बातें करना, बिना कान के उसकी बातें सुनना और बिना चित्र के उसका चितन करना है।‡

द्रष्टा अथवा ज्ञानी अपने इस अनुभव को अपनी नपी-तुली भाषा में नहीं प्रकट कर सकता और न शेष जगत उसे समझ ही सकता है। इसी से वह रहस्यपूर्ण हो गया है, गुह्याद्‌गुह्यतर है। जो लोग इस अद्‌भुत कृति अथवा ज्ञान शक्ति का विकास नहीं कर पाते उन्हे यह रहस्यात्मकता उसके संबध में सदेह में डाल देती है। उन्हें विश्वास नहीं होता कि कोई ऐसी भी शक्ति है जिसके द्वारा ब्रह्म-ज्ञान हो सकता है। कारण, कि उनका ब्रह्म ही पर विश्वास नहीं है। कबीर आदि सतो का ऐसे अविश्वासियो से पाला पडा था। ऐसे ही लोगो से घिरे होने पर कबीर ने कहा था—"दीठा है तो कस कहूं, कह्या न तो पतियाइ"+ ऐसे लोगो से इस अनुभव-ज्ञान का वर्णन करना वैसा ही है जैसा उलूको से यह कहना कि दिनभर सूर्य प्रकाशमान रहता है, उन्हें कैसे विश्वास हो सकता है। यही बात बतलाने के लिए तुलसीसाहब ने उल्लुओ की एक सभा का उल्लेख किया है जिसमें—

(तामे) एक घूघर उठि बोला। दिन का सूरज उगै अतोला ॥
सब मुनि बात अचभा कीना। सुनकर कोई न हुँकारी दीन्हा ॥×

---

*—कबीर ग्रथावली, पृ० ५६, पद १५।

†—बानी (ज्ञानसागर) पृ० ४२, ७०।

‡—नैन बिन देखिबा, अग बिन पेषिबा, रसना बिन बोलिबा ब्रह्म सेती।
स्रवनबिन सुणिबा, चरण बिन चालिबा, चित बिन चित्यबा सहजएती।
बानी (बेल्वेडियर प्रेस) पृ० ६६, १६४।

+—कबीर ग्रंथावली पृ० १७।

× – घटरामायण पृ० ३७६।

परंतु उल्लू यदि सूर्य के अस्तित्व का विश्वास न करे तो क्या सूर्य का अस्तित्व ही मिट जायगा 'नोऽलूकोप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणं'—(भर्तृहरि) ।

इसके अतिरिक्त दैनिक व्यवहार में भी कई बातें ऐसी हैं जिन्हें बिना प्रमाण कही-सुनी बातों के आधार पर ही हम सत्य मान लेते हैं । तब हमें क्या अधिकार है कि हम उन द्रष्टाओं का जो स्वसंवेदन से इस बात का ज्ञान रखते हैं,† केवल इसलिए अविश्वास कर बैठें कि वे जो कुछ कहते हैं हमारी तर्कबुद्धि की पहुँच के बाहर है । बल्कि इससे तो यही सिद्ध होता है कि हम उन पर संदेह करने के अधिकारी नहीं ।

परंतु विज्ञान और बुद्धिवाद के इस युग में भी अब आधुनिक दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों को किसी समय सहसा प्रकाश की वह धुँधली सी झलक दिखाई दे जाती है, जिसे वे 'फिलासफी' अथवा विज्ञान को ज्ञात मन की किसी वृत्ति के द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते, तब उन्हें इस सहजज्ञान की वृत्ति, अस्तित्व को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है । 'हक्सले' का भी कुछ यही हाल था । वह कहते हैं—"मुझे यह काफी स्पष्ट जान पड़ता है कि बुद्धि और चेतना के अतिरिक्त एक और तीसरी चीज भी है जिसे मैं अपने हृदय या मस्तिष्क में न तो पदार्थ के रूप में देख सकता हूँ, न बुद्धि और चेतना के किसी परिवर्तित रूप में चाहे चेतना की अभिव्यक्ति के साथ भौतिक पदार्थ का कितना ही घनिष्ट संबंध क्यों न हो ।‡

इस सहजज्ञान के समर्थन में अविश्वासी पश्चिम में एक और अधिक अधिकारपूर्ण स्वर सुनाई दे रहा है । यह स्वर है फरासीसी तत्वज्ञ बर्गसाँ का । यद्यपि सत्ताशास्त्र (आंटालॉजी) के क्षेत्र में कबीरादि निर्गुणियों में और बर्गसाँ में मतैक्य नहीं, फिर भी ज्ञानशास्त्र (एपीस्टिमालाजी) के क्षेत्र में दोनों एक मत हैं । "बर्गसाँ के सिद्धांतों की आधारशिला ही सहजानुभूति की प्रणाली है । उसके लिए सहजानुभूति के द्वारा किसी तथ्य के अंतरतम में प्रवेश कर

†—इंट्यूटिव मेथड, पृ० ८६ ।

‡—विलियम जेम्स की शब्दावली में 'जो वहाँ पहुँच चुके हैं और जानते हैं' (हू हैव बीन देअर एंड नो) ।
वेराइटीज ऑव रिलिजस एक्सपिरियंस, पृ० ४२३ ।

जाना ही तत्त्वन्वेषणा है ।'* सहजानुभूति वह विवेकपूर्ण सहानुभूति है जिसके द्वारा तत्वान्वेषक अपने आप को ज्ञेय विषयों के अंतरतम में ले जा रखता है। वहीं वह एकमात्र अनुपम सत्ता है जो विचारों-द्वारा समझ में नहीं आ मकती। संक्षेप में वास्तविक सत्ता के हृदयस्पंदन का अनुभव कर लेना ही तत्वान्वेषण है। "†

यह सहजज्ञान अथवा अतर्ज्ञान (इटयूशन) जैसा स्वयं शब्द ही से स्पष्ट है, प्रत्येक व्यक्ति में सहजात है। वह विचारवृत्ति तथा इद्रियज्ञान के परे तो है, परंतु उसकी प्राप्ति उन्हें कुठित करने से नहीं होती। उसकी जार्गात के लिए उनका पूर्ण सस्कार होना आवश्यक है।‡ कबीर की परिभाषा में सहज ज्ञान पाँचो इद्रियो को स्पर्श करता हुआ उनकी रक्षा करता है जिससे इद्रियार्थों को त्याग कर परब्रह्म की प्राप्ति सरल हो जाती है।+ बर्गसाँ ही की भाँति निर्गुणी भी बुद्धि को हेय बताने के उद्देश्य से सहजज्ञान को उसके विरोध में खडा नहीं करता। वस्तुत. आपेक्षिक बुद्धि से प्राप्त बाह्य

---

* 'इट सीम्स टु मी प्रेटी प्लेन दैट देअर इज थर्ड थिंग इन दी युनिवर्स टु विट काशसनेस, ह्विच इन दी हार्डनेस ऑव माइ हार्ट ऑर हेड, आइ केन्नौट सी टुबी मैटर ऑर एनी कन्सीवेबल माडिफिकेशन ऑव आइदर, हाउएवर इंटिमेटली दि मैनिफेस्टेशन ऑव दि फिनामेना ऑव काशसनेस मेबी कनेक्टेड विद् दि फिनोमेनन ऐज मैटर एड फोर्स।—हक्सले के माइन्स एंड मोरल्स से किंग्सलैंड द्वारा उद्धृत, 'रैशनल मिस्टिसिज्म'। पृ० १३१, १३२।

†—जे० एम० स्टेवर्ट—'क्रिटिकल एक्सपोजीशन आव वर्गसाँज़ फिलासफी पृ० ५।

‡—सतगुरु कीया फेरि करि मनका औरै रूप।
दादू पाँचो पलटि करि कैसे भये अनूप॥ बानी, १ म, २, १०।
दादू पाँचो एक मति पाँचो पूर्‌या साथ।
पाँचो मिलि सनमुख भये तब पचौ गुरु की बात॥ वही १०१, १०।

+—सहज सहज सब कोइ कहै सहज न चीन्है कोइ।
पाँचौ राषै परसती सहज कहीजै सोइ॥
जिन सहजै विषिया तजी सहज कहीजै सोइ।
जिन सहजै हरिजी मिलै सहज कहीजै सोइ—
कबीर ग्रंथावली, पृ० ४१, ४२।

ज्ञान को भी वह अपना लेता है जिससे उसे सहज ज्ञान में बार बार सहायता मिलती है।* हमारे ये सत मध्य काल के यूरोपीय सतो के साथ इस बात में सहमत नहीं है कि विचारवृत्ति सवेदना मे विकार उत्पन्न कर देती है, जिससे सत्तत्व को ग्रहण करने के लिए शुद्ध विचारविहीन रूप में रखना आवश्यक हो जाता है। जिस उन्मन दशा तक पहुँचने का प्रयत्न निर्गुणी सत करता है वह एकात मनोनिग्रहपूर्वक प्रेमपुष्ट स्थिर विचार और ध्यान का परिणाम है। यह बात ठीक है, कि इसके लिए योग की क्रियाओ का भी सहारा लिया जाता है, परंतु जैसा गुलाल ने स्पष्ट शब्दो में कहा है —

अर्ध उर्ध को खेल कोऊ नर पावई।
चाँद सूर को बाँध गगन ले जावई॥

इगल पिगल दोउ बाँधि सहज तब आवई।
कह गुलाल हर रोज आनन्द तब आवई॥†

परन्तु साथ ही ध्यान और विचार को भी सहायता ली जाती है, वे त्याग नही दिये जाते। 'ज्ञान' शब्द, जो सहजानुभूति के पर्याय के रूप मे ग्रहण किया जाता है, उसकी विचारानुसारिता की ओर सकेत करता है। अपनी आलंकारिक वैकुंठ यात्रा के लिए कबीर हाथ में प्रेम का कोडा लिये सहज ही रकाब पर पाँव रखकर विचार-तुरग पर सवार होते हैं।‡ कबीर ने स्पष्ट शब्दो मे ही कहा है—'रामरतन पाया करत विचारा।+ और 'प्रगटे विश्वनाथ जगजीवन मै पाये करत विचारा।'× एक और पद में कहा गया है—'आप विचारै ज्ञानी होई।'÷ सहजभाव की प्राप्ति मानसिक व्यापारो को

---

*—जे० एम० स्टेवर्ट 'क्रिटिकल इक्सपोजिशन ऑव् वर्गसाँज फिलासफी', पृ० १९।

†—बानी, पृ० ६३, १७।

‡—अपने विचारि असवारि कीजै, सहज के पावडे पांव जब दीजै।
चलि वैकुठ तोहि लै तारौ, थकहि त प्रेम ताजनै मारौ॥
—कबीर-ग्रथावली, पृ० ९६, २५।

+—वही, पृ० ३१५, १६१।

×—वही, पृ० १७९, २६७।

÷—कबीर-ग्रंथावली, पृ० १०२, ४२।
आदि ग्रंथ मे यह पूरा पद नानक (प्रथम गुरू) नाम से दिया हुआ है, आदि ग्रंथ, पृ० ८१ (वैद्य का तरनतारन-सस्करण)।

काम में लाकर उनसे ऊपर उठने से ही हो सकती है, उसका सर्वथा बहिष्कार करने से नही। दादू ने इसीलिए विचार को सब व्याधियो की एकमात्र औषधि कहा है। उनकी सम्मति में करोडो आचारी भी एक विचारी की बराबरी नही कर सकते। आचार का पालन तो सारा जगत कर लेता है। पर विचारी कोई विरला ही हो सकता है।* परन्तु सहजानुभूति के क्षेत्र में विचार नही पहुँच पाता। उसका बहिष्कार नहीं किया जाता, वह नीचे ही रह जाता है। क्योकि वह व्यावहारिक है। इसी से कबीर ने कहा है जब ब्रह्म का साक्षात् हो गया तब विचार का क्या काम ? व्यवहार तो अब कोई रह ही नहीं गया।† और इसी को ध्यान में रखकर सभवत. शिवदयाल जी ने भी कहा है कि परमपद में केवल सत्य नाम है, वहाँ विचार का कोई काम नही। विचार का काम माया के क्षेत्र तक है जहाँ बूद सिधु से अलग है। इसलिए जिन्होंने यह समझा कि विचार को लेकर हम परमपद रूप सागर मे पहुँच जायगे वे धोखे में आ गये और बूँद ही के क्षेत्र मे रह गये। जीवदशा मे छुटकारा न पा सके।‡

सहजानुभूति को जगाकर जो सत ब्रह्म-समाधि मे लीन हो जाता है, वह ससार से अलग पहचाना जाता है। उसके सबध मे कोई गलती नही हो सकती। उसका प्रेमोज्ज्वल परमार्थी रूप छिपा नही रह सकता —

अनुभव प्रेम उज्ज्वल परमारथ रूप अलग दरसावै।
कह भीषा वह जागरत जोगी सहज समाधि लगावै॥+

उसके प्रत्येक सासारिक कृत्य में यह सहजानुभूति परिलक्षित होती है, कभी उसका तार टूटता नही है —

---

*—दादू सबही ब्याधि की औषधि एक विचार।
समझे ते सुख पाइए, कोइ कुछ कहै गँवार॥
कोटि अचारी एक विचारी तऊ न सरभरि होइ।
आचारी सब जग भरचा, विचारी विरला कोइ॥

†—अब क्या कीजै ज्ञान विचारा, निज निरखत गत ब्योहारा॥
—कबीर-ग्रंथावली, पृ० १०४, २८२।

‡—हमरे देश एक सत नाम, वहाँ विचार का कुछ नही काम।
कर विचार इन धोखा खाया, बुद माँहि यह जाय समाया॥
—सारबचन, २ य, पृ० ७६।

+—बानी, पृ० २५, २।

साधो सहज समाधि भली ।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी दिन दिन अधिक चली ।
जहँ जहँ डोलौ सो पैकरमा जो कुछ करौ सो सेवा ।
जब सोवो तब करौ दंडवत पूजौ और न देवा ।।
कहौ सो नाम सुनौ सो सुमिरन, खाँव पियौ सो पूजा ।
गिरह उजाड एक सम लेखौ, भाव मिटावौ दूजा ।।
आँख न मूदौ कान न रूँधो, तनिक कष्ट नहि धारौ ।
खुले नैन पहिचानौ हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौ ।।
सबद निरंतर सो मन लागा, मलिन बासना त्यागी ।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी ।।
कह कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट कर गाई ।
दुख-सुख से कोई परे परमपद, तेहि पद रहा समाई ।।*

जैसे माला के सब मनको को बेधते हुए सूत चला जाता है, उसी प्रकार यह अनुभूति उसके कामो मे व्याप्त रहती है–या यो कहिये कि दूध मे जैसे घी सर्वत्र विद्यमान रहता है उसी प्रकार यह चरम ज्ञान उसके व्यवहार में रहता और उसके आनद का ठिकाना नही रहता क्योकि यह ज्ञान उसी ब्रह्म मे मिल जाना है । परब्रह्म और उसका सहज ज्ञान विभिन्न सत्ताएँ नही है, दोनो एक है । इसी से सतकेशव ने उसको सहजस्वरूप कहा है—

कोटि बिस्नु अनत ब्रह्मा, सदासिव जेहि ध्यावही ।
सोई मिलो सहजसरूप केसो, आनद मंगल गावही ।।†

अत इससे बढ़कर आनन्ददायी अनुभूति और कौन हो सकती है ?

---

*—सतबानी सग्रह, २, पृ० १४-१५ ।

†—अमीघूट, पृ० ३, १२ ।

उत्तराखड के मंत्रों में

गोरखनाथ

गोरखनाथ का नाम समस्त उत्तर भारत की जनता मे व्याप्त है। उनका नाम सुनते ही एक सर्व समर्थ त्रिकालज्ञ सिद्ध योगी का दिव्य चित्र कल्पना के नेत्रो में आ जाता है। वे आदर, आश्चर्य और आतक के भावो को हृदय में एक साथ उठा देते है । किन्तु उनके सम्बन्ध मे प्रामाणिक बातें कुछ भी नही ज्ञात है। इसके लिए सामग्री का बहुत अभाव है। हाँ, थोडी सी सामग्री ऐसी है जो उनके सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाने मे सहायक होती है। उसे हम इस प्रकार विभाजित कर सकते है। (१) मत्र (२) दतकथाएँ (३) स्वय उनके नाम से चले हुए कुछ पद्य (४) और सतो से उनका सम्बन्ध।

जत्र-मत्रो का देश में बहुत प्राचीन काल से प्रचार है। अपने इष्ट-साधन तथा शत्रु का अनिष्ट कराने के लिए जगत में सर्वत्र जत्र-मत्रो का प्रयोग होता है। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, कीलन, उत्कीलन आदि तात्रिक अभिचार हमारे देश मे खूब चलते रहे है। सबसे अधिक प्रयोग जो इनका होता था वह शरीररक्षा के लिए। आत्मरक्षा के लिए कील–कवच का पाठ वे लोग भी करते है जो ओझाओ को भूत-प्रेत-पूजक मानते है। तुलसी जी ने भी वशिष्ठ से राम का अनिष्ट शात करने के लिए नरसिंह-मत्र का पाठ करवाया है।* गाँवो मे इन मत्रो का प्राचीन काल के ही समान

---

*—आजु अनग्से है भोर के, पय पियत न नीके।
रहत न बैठे ठाढ पालने झुलावत हू, रोवत राम मेरो सो सोच सबही के॥
देव पितर गृह्र पूजिये तुला तोलिये घी के।
तदपि कबहुँ कबहुँक सषी ऐसेहि अरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के॥
बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के।
सुनत आइ ऋषी कुस हरे नरसिह मत्र पढे जो सुमिरत भय भी के॥
—गीतावली १, १२।

साम्राज्य है। वहाँ रोग-निवारण के लिए सबसे पहले मात्रिक ही ढूँढा जाता है। वह अब पहले के ही समान सर्वश्रेष्ठ वैद्य समझा जाता है।* उत्तराखंड के पहाडी प्रदेश मे इसीलिए रोग-निवारण और शरीररक्षा के लिए मत्र-प्रयोग को बैदाई कहते हैं। इन मत्रो में प्रभावोत्पादन के लिए प्राचीन काल के बडे सिद्धो की दुहाई दी जाती है और उनके कुछ कल्पो का स्मरण किया जाता है इसी प्रसग से गढवाल प्रदेश के मत्रो मे कुछ सिद्धो का उल्लेख हो गया है। इन मत्रो के अवसरानुसार अलग-अलग नाम हैं। शरीररक्षा के मत्र जो साधारणतया सब रोगो के निवारण के लिए प्रयोग मे आते है 'रखवाली' और 'घट थापना' कहलाते हैं। भगदर को दूर करनेवाले मत्र को छिद्रवाली, नरसिंह देवता के रोष को दूर करनेवाले मत्र को नरसिंग्वाली और मुसलमानी पीरो, प्रेतात्माओ के रोष को दूर करनेवाले मत्रो को सैद्वाली कहते हैं। इसी प्रकार 'दरियाव' भी मुसलमानी प्रभाव का द्योतक है। दरियाव और सैद्वाली को छोडकर सब प्रकार के मंत्रो में नवनाथो और सिद्धो की आण (आज्ञा) पडती है। जिन नाथो और सिद्धो के नाम उनमें आते है, वे ये हैं—गोरखनाथ, मछदरनाथ, चौरंगीनाथ, बालकनाथ, लालनाथ, गरीबनाथ, सतनाथ, गुंफानाथ, महादेवनाथ, चंद्रनाथ, हनुमतनाथ, पिंगलनाथ, चौसदियानाथ, फटिकनाथ, नरसिहनाथ, गोपीचद भरतरी, बटुकनाथ, वृकुणनाथ, प्रचंडनाथ, गोलालनाथ, सुखीनाथ, लोकमणीनाथ, सुर्जनाथ, लोठणनाथ, कालनाथ, ककालनाथ, तिलोकीनाथ, अजैपाल और कबीरनाथ। इसमें सदेह नही कि इसमें से कुछ देवताओ के नाम हैं जो नाथपथ में नाथ मान लिये गये हैं। जैसे महादेवनाथ, हनुमतनाथ और नरसिगनाथ। अन्य कुछ नाम ही नाम हैं। हाँ, पहले तीनो तथा कुछ थोडे अन्यो के सम्बंध में कुछ अधिक कहा गया है। गोरखनाथ के विषय में उनमें जो कुछ कहा गया है वह आगे दिया जाता है।

'घटथापना' में गोरखनाथ का जन्म गोबरपिंडी स माना गया है।† ओले की रोक के लिए डलिये नाथ जो मत्र‡ कहते हैं, उनमें गोरखनाथ का जन्म

*—रस-वैद्यौ देव-वैद्यो मानुषो मूलकादिभि। (?)
अधमश्शस्त्र दाहाभ्या (?) सिद्ध-वैद्यस्तु मात्रिक ॥

†—श्री गोरषनाथ वीर भैराऊँ बाबा जिनने गोरषपजा, गोरष ध्यान गोरष की पिडी औतार लिया।

‡—पैले ॐकार तब भयो निरकार·· ····· शिव जी की जटा ते उपज गुरु गोरषनाथ। —डाल मंत्र

शिव जी की जटा से माना गया है। गोरष कुडली नामक मत्र मे कुडली से सम्बन्ध रखनेवाली कोई बात नही है। सम्भवतः उसमें कुडली से अभिप्राय कुडलिनी से हो क्योकि उसमें अमृत, उन्मनी आदि का भी उल्लेख है।+ ये अधिकतर यती× और ब्रह्मचारी† कहकर पुकारे जाते हैं। कहा गया है कि इन्होने एक साथ चौरासी लाख योनि का फेरा करके अपना दाना-पानी पूरा कर लिया था,‡ मुक्त हो गये थे। सिद्धो में ये सबसे बडे सिद्ध समझे जाते हैं। कही ये और सब सिद्धो की भाँति वीर भैरव माने गये है, और कही बुद्ध भैरव।÷ नाना प्रकार के रोगो के ऊपर इनका अधिकार माना जाता है। नाना प्रकार के अभिचारो से लोगों की रक्षा करने की उनमे सामर्थ्य मानी जाती है। शरीर की रक्षा के लिए उनकी दुहाई दी जाती है। शरीर मे अमृत सचार के लिए उनका स्मरण किया जाता है।ꕥ विभूति इनको बहुत प्रिय है। विशेष कर कडे और पीपल की इसी से रखवाली में राख का प्रयोग किया जाता है।* इनके लिए पत्थर पवित्र माना गया है। इनके घट-घाट

+—जोगी होइ त उन्मुन भिक्षा माँगी षाऊँ—गोरप कुडली।

×—सिद्ध मध्ये गोरष जती कू आदेश। सिद्ध मध्ये गोरप जती की आण पडी।

†—घट पिडा थापिले बाबा गुरु गोरष ब्रह्मचारी—'घट थापना'।

‡—अष्ट मे बुध भैराऊँ श्री गुरु गोरषनाथ जिनने लक्ष चौरासी जाय जीवन का दाणा पाणी पुस्यापीलीया।

÷—तू जागिजा रा वीर भैराऊँ तू जागिजा भै भै गोरषनाथ जी तेरे आगे छल देव बल होइगो तुम हकारी बोलादो बाण सघारी लीया मृत्युमडल की थोड़ी निनाई दैत्र दानव भूत प्रेत का बाण सघारी लीया चिया को छार मडा को हाड मुल्याव को हाड मडघट की माटी मुल्याव की षोपडी के बाण संघारी लिया ......सिधा गुरु गोरषनाथ वीर भैराऊँ येइ घट पिडा तू रष ले बाबा तेरी चौकी तेरो पहर तेरो सुमिरन श्री गुरु पादुकाय......

ꕥ—घट पिडा का गुरु गोरष रखवाला अमृत देऊँ पीऊँ षीर कहाँ है रे मेरा बज्रंगी वीर बज रमारे गोरष जोगी।

*—ॐ विभूतो माता विभूतो पिता तीन लोक तारणी सर्व दुष निवारिणी चढे विभूति पडे इथाऊँ रक्षा करे श्री गोरष राऊ बाबा गोरषनाथ सिद्ध-जोग आरणो गोसा की बभूत पीपल की रागणी।—आप रक्षा बभूत मत्र।

(बर्तन सिंहासन) पत्र-छत्र, आसन-बेसन, डडा-डमरू, मुद्रा-नाद, सेली-सिंघी और फावडी सब पत्थर की कही जाती है। ये बनवासी कहे गये हैं। इनका आश्रम उत्तर दिशा में बदरी केदार की ओर कही+ धवल गुहा में बताया गया है।‡ एक जगह इनकी शक्ति (अर्द्धांगिनी) देवी तारा तोतला बतायी गयी है।× इनके उपदेशो से हिन्दू मुसलमान दोनो ने लाभ उठाया है। दोनो के साधु इनके शिष्य होकर इनके साथ हो लिये।÷

+—बाबा श्री गोरषनाथ····· पत्थर का घट पत्थर का पाट पत्थर का पत्र पत्थर का छत्र पत्थर का आसण-बेसण पत्थर का डडा-डमरू पत्थर का मुद्रा पत्थर का नाद पत्थर की सेली-सिगी पत्थर की फावडी···· गोरष कुण्डली।

‡—बाबा गोरषनाथ सिद्ध जोग आरिणी उत्तर दिशा माँ धौली भागीरथी को स्नान छ बैणी हे माता बद्री केदार की यात्रा छ बैणी रुद्र हिवाल गुरु महादेव की धुनी छ बैणी हे माता जुसी मठ माँ पूपी नरसिग औतार छ बैणी हे माता धउला उत्थारी गुरु गोरषनाथ का बासो छ हे बैणी।

×—अरधगी देवी तारा तोतला सिधा गुरु गोरषनाथ····।

÷—श्री गारषनाथ वीर भैराऊँ जिनमे हिदू मुसलमान बालगुदाई से सहरथ लगाई लीया।

गांधी और कबीर

अपनी सन् १९३५ ई० की हरिजन-यात्रा में जब महात्मा गांधी काशी पहुँचे थे तब कबीर मठ में उनसे यह सुनकर कि मेरी माता कबीरपंथी थी, उपस्थित जनसमुदाय को विस्मय सा हुआ था। परन्तु जो लोग महात्मा गाधी और कबीर की विचारधारा से परिचित है उनके लिए इसमे विस्मय की कोई बात नही, क्योकि वे जानते है कि उन दोनो में कितना अधिक साम्य है। उनके लिए तो आश्चर्य की बात यही है कि लोग महात्मा गाधी की विचारधारा का मूलस्रोत ढूँढने के लिए रूस, इगलिस्तान और अमरीका जाते हैं। गाधी के निर्माण मे टालस्टाय, रस्किन और सम्भवतः लायड गैरिस्सन आदि के विचारो का भी हाथ रहा है सही, पर गौण रूप से। गाधित्व की गगा का गोमुख मूलत कबीर की शिक्षाओ में है, जिन्हे उन्होने माता के दुग्ध के साथ पान किया था और जो इसी कारण उनकी नस नस में व्याप्त है। टालस्टाय आदि के विचार तो उनके हृदय में सोती हुई उस चिनगारी को सुलगाने-मात्र मे कारणरूप हुए है जिसे उन्होने अपनी माता के द्वारा कबीर से आध्यात्मिक दाय में प्राप्त किया था।

गाधी की सबसे बड़ी विशेषता जो उन्हे कबीर के साथ ले जाकर रखती है, उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा है। वे हमेशा उस परम तत्व तक पहुँचने का प्रयत्न करते है जिसे उन्होने कबीर के से शब्दो में अनिर्वचनीय ज्योति अथवा परम प्रकाश कहा है।‡ इस प्रकाश की उन्हे थोड़ी सी ही सही, झलक अवश्य

---

‡—उनका जीवन ही राममय है, उनके कृत्य प्रार्थना रूप। जैसे कबीर अजपा जाप के द्वारा साँस-साँस मे राम नाम का जप करना विधेय समझते है उसी प्रकार गाधी भी। कबीर कहते है—सहस इकीस छसै धागा निहचल नाकै पोवै—क० ग्र०, पृ० १०६, ६१६। उसी प्रकार गाधी जी का कहना है—"रामनाम का इकतारा तो चौबीसो घटे, सोते हुए भी, श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से चलता रहना चाहिए।"—हरिजन

प्राप्त हो गयी थी। उसी परम ज्योति में अपनी जीवन-ज्योति को मिला देने का उन्होंने सफल प्रयत्न किया है, उनकी आत्मकथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनके सब कामो में वही ज्योति जगमगा रही है। उस दुर्बल-से शरीर को लोक-कल्याण में प्रवृत्त होने की अनन्त शक्ति उसी ज्योति के दर्शन से प्राप्त हुई है।

उसके दर्शन ने उनको सत्य का सबसे बड़ा समर्थक बनाया है। कबीर की ही भाँति उनके लिए सत्य ही एकमात्र परमात्मा है। सत्य की स्वानुभूति के प्रकाश मे ही वे जगत की सब बातो को देखना चाहते है। उनके लिये कार्याकार्य का वही एक मापदड है। अपने प्रत्येक कार्य के लिए वे उसी की अनुज्ञा चाहते है। उसी के भीतरी शब्द की ओर वे हमेशा अपने कान लगाये रहते है और इसी के आदेश के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करते है। फिर चाहे ऐसा करने में सारी दुनिया के विरुद्ध जाना पड़े। इसी अभिप्राय से कबीर अपने को 'सत्य नाम का उपासक' और गांधी अपने जीवन को 'सत्य के प्रयोग' कहते है।

कबीर की ही भाँति गाधी भी राम-नाम की महिमा खूब गाया करते है। परन्तु कबीर की ही भाँति उनका भी राम से अभिप्राय दाशरथि राम से न होकर परब्रह्म सत्य राम से है जो अज, अनादि और अनाम है। जहाँ कबीर कहते है, 'दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना, राम-नाम का मरम है आना", वही गांधी जी के सेक्रेटरी भी लिखते है—"प्रार्थना में गाधी जी का ध्यान निराकार सर्वव्यापी प्रभु की ओर रहता है। राम जिसको वे पूजते है, उनकी कल्पना का है, न तुलसी-रामायण का न वाल्मीकि का।" ईश्वर अवतार लेता है अवश्य, परन्तु उसी अर्थ में जिसमें प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का अवतार है। कबीर का अनुसरण करते हुए गांधी सबके हृदयस्थ परमात्मा की ओर संकेत कर जन-समाज के सामने महत्त्व का अभिनव मार्ग खोल रहे है। अटूट लगन और दृढ सचाई के साथ यह मार्ग सब के लिए सुगम है। मनुष्य को यदि अपने इस तात्त्विक महत्त्व का सच्चा अनुभव हो जाय तो वह कितना ऊँचा उठ सकता है, सच्चे देवलोक को, (इन्द्रियलोलुपो के कल्पित स्वर्ग से अभिप्राय नही)—पृथ्वी पर उतार ला सकता है। सब राम

बधु मे 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक निवध। 'कल्याण' भाग १४, पृ० १४" पर उद्धृत।

और कृष्ण हो सकते है। गांधी का यह व्यवहार और प्रयोगानुमोदित-संदेह अन्याय और अत्याचार के लिए खुली ललकार है।

परन्तु इसे गर्व और अहकार को खुल कर खेलने के लिए निमत्रण नही समझना चाहिए। उनमें झूठी मान-मर्यादा (प्रेस्टीज) का जरा भी विचार नहीं, जो नाममात्र के बडे आदमियो से जरा जरा से पापो के छिपाने के लिए बडे बडे काम करवाती है। वे तो हिमाचलाकार गलतियो को स्वीकार करने मे भी नही हिचकते। वास्तविक विनय की अनुभूति के साथ ही उसे सीखना और काम मे भी लाना चाहिए। साम्राज्य को कँपा देनेवाली धमकी गाधी घुटने टेक कर देते है। जो अपने लाल की लाली मे लाल होना चाहता है, परमात्मा के प्रेम में रँगकर स्वय परमात्मा होना चाहता है, उसे पहले सर्वत्र लाल की लाली देखना, परमात्मा के दर्शन करना चाहिए+—अपने मे ही नही, प्रत्येक जीव मे चर और अचर में, अणु-परमाणु मे। यह मुँह से कहना तो आसान है किंतु इसकी वास्तविक कठिनाई तब जान पडती है जब अपने भेजे की भूखी लाठी, खून की प्यासी तलवार, प्राणो की ग्राहक गोली तथा इनका प्रयोग करनेवाला विरोधी सामने होता है। इनमें भी परमात्मा के दर्शन कर सकना मानवता की सबसे बडी विजय है, जिसे गाधी जी ने सबके लिए आदर्श बतलाया है और जिसे उन्होने अपने जीवन में सफलता के साथ उतारा है। यही सर्वग्राही प्रेम कबीर का बल था, यही गाधी का बल है। भौतिक शक्ति न उससे बर पाई, न इससे। प्रेम का क्षेत्र कुछ ऐसा विचित्र है कि उसमें पराजय भी विजय हो जाती है। क्योकि पराजित प्रेम के अलक्ष्य प्रभाव का प्रतिरोध ही नही हो सकता।

गाधी का धर्म सब विशेषताओ और आडम्बरो से शून्य सरल धर्म है, जो सर्वदा और सर्वत्र एकरस रहता है। यदि कबीर के शब्दो मे गांधी के धर्म का सार बतलाना चाहे तो कह सकते है—"साईं सेंती साँच रहु, औरों सूँ सुध भाइ।" परमात्मा में सच्ची लगन और प्राणिमात्र के साथ शुद्ध व्यवहार—यह धर्म का सार है। इसको काम मे लाने के उपाय देश और काल की परिस्थितियो के अनुसार बदलते रहते है, परन्तु यह मूलधर्म स्वय बदल नही सकता। कबीर, सब धर्मो में से पाखड को हटाकर धर्म के इसी शुद्ध

+—लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली ढूँढन मै चली, मै भी हो गइ लाल॥
—कबीर

स्वरूप को लोगो के सामने रखना चाहते थे, और गाधी भी सब धर्मो के आवरण की ओर दृष्टिपात न कर इसी मूल तत्व की ओर दृष्टिपात करते है। इसी कारण सब धर्म और सब धर्म-प्रवर्तको मे उनकी श्रद्धा है। हिंदू-धर्म में उनकी विशेष श्रद्धा का कारण यह है कि वे उसी मे इस सिद्धात का पूर्ण प्रतिपादन पाते है। वह उनकी दृष्टि मे सार्वभौम अथवा विश्व-धर्म है। गाधी जात-हिन्दू है सही, परन्तु उनकी आत्म-कथा से पता चलता है कि उन्होने हिंदुत्व को अपने लिए फिर से ढूँढा है। हिन्दुत्व की जो विशेषता गाधी जी को हिन्दुत्व के क्षेत्र मे रख सकी है वही जात-मुसलमान होने पर भी कबीर को हिन्दुत्व के क्षेत्र मे खीच लाई थी। कबीर हिन्दू-भावनाओ और आदर्शो मे इतने ओत-प्रोत थे कि मिस्टर विल्सन को यहाँ तक सन्देह हो गया कि हो-न-हो कबीर किसी हिन्दू-सुधारक का उपनाम मात्र है।

गाधी और कबीर दोनो कथनी और करनी में पूर्ण साम्य के समर्थक है। जो वे कहते है वही करते भी है। वे मन, वचन, और कर्म—सब मे सामंजस्य बनाये रखते है। जीवन की वह शुद्धता जिसको वे लक्ष्य करते है, वाणी तक ही सीमित नही। वे उसे 'रहकर' दिखाते है। यही कारण है कि उनके विरोधी को भी उनकी सत्यता में अविश्वास नही होता और यही कारण है कि जगत् के कोने-कोने में उनकी सत्य-प्रसारक-वाणी श्रद्धा के साथ सुनी जाती है।

'मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्' ने ही आज सब धर्मो को चौपट कर रखा है। सिद्धान्त रूप मे तो सब परमात्मा की सर्वव्यापकता मानते है, सब में परमात्मा का अश और सबको परमात्मा के सम्मुख बराबर समझते है, परन्तु जब सिद्धान्तो को कार्य मे परिणत करने का अवसर आता है तब मनुष्य का आभिज्यात गर्व, अहकार और अधिकार-मद ठेस खा कर व्याकुल हो उठता है और जो परमात्मा के सम्मुख बराबर है वे आदमी के सम्मुख ऊँच-नीच हो जाते है। हमारे सब दर्शनो का जन्म ही संसार-दुख का अत करने के उद्देश्य से हुआ है। परन्तु मनुष्य अपने व्यवहार से जिन विषमताओ अन्यायो और अत्याचारों का अन्त कर सांसारिक जीवन मे यत्किचित् शान्ति और सुख-सचार कर सकता है, दार्शनिक क्षेत्र का परमार्थ और व्यवहार-भेद कहनी और करनी-भेद का आवरण बनकर उसे भी नही होने देता। कबीर का पदानुसरण करते हुए गाधी ने इस स्थिति के निराकरण का प्रयत्न किया है। इसी ने दोनो को पददलित शूद्रो का बन्धु बनाया है। गांधी जी ने तो शूद्रो के अभ्युत्थान-यज्ञ मे अपने प्राण ही होम दिये थे। उनके लिए वह एक सामाजिक सुधार मात्र नही एक पारमार्थिक कर्तव्य है, परमात्मा को प्रसन्न करने

का एक प्रधान उपाय है। शूद्रो के प्रति अन्याय करके हम परमात्मा की अप्रसन्नता के भाजन बन रहे है। बिहार और क्वेटा के भूकप उनकी दृष्टि मे इसी अप्रसन्नता के द्योतक है। अस्पृश्यता को वे हिन्दू जाति का कलक मानते है। अछूत, अछूत नही है। उन्हें अछूत मान कर हम स्वय अछूत बन रहे है।

इस प्रकार गाधी के हरिजन-आन्दोलन का आरभ कबीर ने ही कर दिया था। कबीर के लिए हरिजन होने से बढ़कर जाति नही—'हरिजन सवी न जाति।' इसीलिए शूद्रो को उन्होने हरिजन बनने का आदेश दिया। गाधी भी उन्ह हरिजन कहकर यही जता रहे है कि हरिजन का पद सब जातियो से ऊपर है। पर कबीर ने हरिजन शब्द को शूद्र का पर्याय नही बनाया है। सब शूद्रो को हरिजन न कहते हुए भी उन्होने शूद्रो को नीच समझने के लिए हिदुओ को खूब फटकारा है।

गाधी की दलित-हितैषणा कबीर से किसी प्रकार कम नही। वे प्राण-पण से शूद्रो की उन्नति करने में लगे हुए है, यह सर्वथा सिद्ध बात है। पर प्रश्न यह है कि शूद्रो को अपनी उन्नति के लिए दूसरो पर ही अवलम्बित रहना चाहिए अथवा उनके हृदय मे भी बल उत्पन्न होना आवश्यक है। जो शूद्र हरि-भक्त नही है उसका भी आदमी की तरह रहने का अधिकार है या नही ? मुझे तो ऐसा जान पड रहा है कि शूद्रो को हरिजन कह कह हम उनके हृदय में आत्म-सम्मान की जड काट रहे है। उनके मन में यह भाव बिठला रहे है कि शूद्र होना बुरा है। साथ ही ऐसा करने से हम उनकी दलितावस्था को अप्रति-कार्य बतला कर उनके भविष्य को नैराश्य से आच्छादित कर रहे है। वे जो कुछ है वही रहकर अन्य वर्णो के साथ महत्व का स्थान नही प्राप्त कर सकते! फिर भी दूसरा उपाय ही क्या है ? महात्मा जी भी कहें तो क्या ? हमारी कट्टरता की दृढ दीवारो को तोड़ कर उदारता का हमारे हृदय मे प्रवेश होना सचमुच परमात्मा के ही चमत्कार से सभव हो सकता है। समस्या ही इतनी जटिल है। हरिजन शब्द की द्योतक शक्ति का ह्रास तो जो हुआ सो हुआ, डर तो यहाँ तक है कि इस नैराश्य से हरिजन-आन्दोलन के मूलोद्देश्य पर ही आघात न पड़े और शूद्र शब्द के पर्यायो मे एक और बढ़ कर न रह जाय।

जात-मुसलमान होने के कारण कबीर को वर्ण-व्यवस्था का विशेष ज्ञान था। जिस व्यवस्था में शूद्रो के साथ ऐसा अन्याय होता है उसे उनकी दृष्टि में अवश्य ही हेय होना चाहिए। साथ ही उनका यह भी मत था कि वर्ण-व्यवस्था आध्यात्मिक महत्व से सर्वथा शून्य है। उसका ध्येय आदमी को केवल धन्धो पर जोतना है, जिनसे सकाम कर्म बढ जाते है और आवागमन का

बन्धन दृढतर होता जाता है। इसीलिए उन्होने क्षत्रियों को उद्दिष्ट करके कहा है—

खत्री करै खत्रिया धरमो, तिन कू होय सवाया करमो।
जीवहि मारि जीव प्रतिपारै, देखत जनम आपनो हारे॥

परन्तु गाधी का मत इससे भिन्न है। उनकी विचार-दृष्टि से देखें तो कबीर को उत्तर दिया जा सकता है कि फल से पेड पहचाना तो अवश्य जाता है, परन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि उचित रक्षा, कर्षण और सिंचन के अभाव में कभी-कभी पेड और फल दोनो विकार-ग्रस्त हो जाते है। ऐसी दशा मे उचित उपचार वृक्ष का समूल नाश कर डालना नही है, प्रत्युत विकार के कारणो को हटा कर विकार को हटाने का प्रयत्न करना है। गाधी जी तो यहाँ तक कहते है कि वर्ण-व्यवस्था सर्वत्र है परन्तु हिन्दू-धर्म ही उसे पूर्ण वैज्ञानिक स्वरूप दे सका है, जिसके कारण हमारे जीवन को भौतिक लक्ष्य की दृढ एकमुखता प्राप्त होती थी तथा भौतिक जीवन के अनिश्चय और सदेह से मुक्ति हो जाने के कारण आध्यात्मिक अन्वेषण के लिए कुछ अवकाश भी सुलभ हो जाता था।

वर्तमान की आवश्यकता है इस प्रशस्त व्यवस्था में घुसे हुए विकार को दूर करना। यह विकार दो कारणो से आया है। एक तो वर्ण, गुण-कर्म विभागशः निर्दिष्ट न होकर जन्म से निर्दिष्ट होने लगा है, जिससे व्यक्ति के लिए अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल जीवन-मार्ग बन्द हो गया है। दूसरे वर्ण के साथ सामाजिक उच्चता-नीचता का सम्बन्ध हो जाने के कारण स्थिति और भी बिगड गई है। इससे लोगो की दृष्टि में परिश्रम का महत्व बहुत कुछ घट गया है।

जन-साधारण की दृष्टि में जाति से वर्ण का सम्बन्ध माना जाना बहुत कुछ स्वाभाविक भी है, क्योकि गुण-कर्मो के निर्माण में परिस्थितियो का ही हाथ रहता है, और परिस्थितियाँ जन्म से ही अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर देती है। इसीलिए आनुवशी पेशो मे व्यक्ति जो कौशल प्राप्त कर सकता है वह बाहरी पेशो मे उसे कदाचित् ही मिले। परन्तु इस बात को भी न भूलना चाहिए कि जन्म से लेकर पडनेवाले प्रभाव हमेशा माता-पिता के ही नही होते और जीवन में ऐसे भी प्रबलतर बाहरी प्रभाव पड़ सकते है जो माता-पिता के प्रभाव को मिटा डालते है। जाति से वर्ण का निर्णय यदि सामान्य नियम माना जाय तो उसमे अपवादो के लिए भी उदारता-पूर्ण स्थान होना चाहिए। दूसरे कारण के सम्बन्ध में इतना ही कहना काफी होगा कि

अब वह समय दूर नहीं है जब लोग उद्योग का पूरा महत्व समझने लग जायँगे। ऊँचे-ऊँचे वर्णों का नीचे से नीचे समझे जानेवाले व्यवसायो को ग्रहण करना इस बात का साक्षी है कि इस सद्‌बुद्धि का बहुत कुछ उदय हो चला है। इसमें सदेह नही कि आज की स्थिति में नीचे समझे जानेवाले व्यवसायो के कारण ही किसी वर्ण के साथ सामाजिक नीचता जोड बैठने का छिछलापन खूब स्पष्ट हो रहा है।

प्राचीन काल में अध्यात्मवादी लोग भौतिक वस्तुओ को इतना तुच्छ समझने थे कि सब छोड छाड कर जगलो में जाकर एकान्त सेवन करते थे। जगत् उनके महान् सिद्धान्तो का व्यावहारिक लाभ नही उठा सकता था। काननों मे सिंह मुनियो के तलुए सुहलाया करते थे और बस्तियो मे महाभारत होते थे। राजा जनक का पदानुसरण करते हुए कबीर ने एक और पहलू से भी तपस्या को देखा। उन्होने उस निर्बल तप की तुच्छता बतलाई, जिसका लोभ, मोह, मद, मत्सर से दूर काननो और कन्दराओ में ही निर्वाह हो सकता है। जिस तप में इतना बल नही कि इनके बीच मे रहकर इनसे प्रभावित न हो वह नाम का ही तप है। तप का उद्देश्य शृङ्गी ऋषि बनाना नही, जनक बनाना है। वास्तविक तप वह है जिसके सामने मायिक शक्तियाँ स्वय अप्रतिभ हो जायँ। लोक को क्षेत्र बनाकर चलनेवाला तप वास्तविक अन्त शुद्धि का स्वत' प्रमाण है और साथ ही लोक-शुद्धि का जनक भी। इसी तप ने रामानन्द और कबीर को मध्य-युग की बहुत सी सामाजिक विषमताओ को दूर करने के प्रयत्न में लगाया था।

परन्तु गाधी इससे एक पग आगे और बढ गये है। वे सामाजिक ही नही, राजनैतिक क्षेत्र मे भी आध्यात्मिक भावना का प्रयोग करना चाहते है। उनकी शिकायत है कि सारी बुराई की जड़ आध्यात्मिकता का अभाव है। यही कारण है कि और जगह जो छल-कपट समझा जाता है वह राजनीति की सीमा मे अनुचित नही माना जाता। राजनीति की सब निरकुशताओ को दूर करने के लिए वे राजनीति के क्षेत्र में भी धर्म-भावना का उदय चाहते है। इसीलिए उन्होने सत्याग्रह के अस्त्र का निर्माण किया है। उन्ही के शब्दो में सत्याग्रह राजनीति मे धर्म-भावना के प्रवेश का प्रयत्न है। राजनैतिक जीवन की कुटिलताओ को वे उसके द्वारा दूर करना चाहते है, इसीलिए उनके अनुसार वह बड़े से बडे अत्याचारी को घुटनो पर ला सकता है।

यह कबीर की आध्यात्मिक प्रवृत्ति के विरुद्ध नहीं। बल्कि उनके सिद्धातो का सर्वांगीण प्रयोग-मात्र है। यदि कबीर आज होते तो वे भी सम्भवतः गाधी

की भाँति राजनीति में कूदते दिखाई देते। कुछ लोगो का विश्वास है कि कबीर ने राजशक्ति का विरोध भी किया था। फरिश्ता का कहना है कि किसी फकीर ने सिकन्दर लोदी को हिन्दुओ के धार्मिक अधिकारो मे हस्तक्षेप करने के लिए फटकारा था, जिससे क्रुद्ध होकर सिकन्दर तलवार लेकर उसे मारने दौड़ा था। विल्सन आदि विद्वानो का अनुमान है कि यह फकीर कबीर ही था। यद्यपि मै इससे सहमत नही, फिर भी इससे इतना स्पष्ट है कि साधु-सन्त राजाओं का विरोध करना बुरा नहीं समझते थे। कबीर ने राजनीति में उतना हस्तक्षेप नहीं किया। इसके दो कारण हो सकते है। या तो यह कि उस समय सम्भवतः पशुबल का इतना जोर था कि आध्यात्मिकता की ही रक्षा के लिए यह श्रेयस्कर समझा गया हो कि वे राजनीति से अलग रहे; अथवा यह कि तत्कालीन शासन जनता के जीवन मे उस प्रकार व्याप्त न हो जिस प्रकार आज है और सुलतानो का अत्याचार, महामारी, भूकम्प आदि ईश्वरीय प्रकोपो की भाँति, कभी ही कभी आ घहराता हो और जनता के जीवन पर कोई स्थायी प्रभाव डाले बिना चला जाता रहा हो।

परन्तु गाधी जी के कार्य-सम्पादन के शस्त्रास्त्रो में आमरणोपवास अथवा भूखहडताल वाला उपाय शायद कबीर को पसन्द न होता। आमरणोपवास की तो बात ही क्या है, कबीर व्रतोपवास तक में विश्वास नही करते थे। व्रतोपवास के सम्बन्ध मे कबीर ने बहुत स्पष्ट शब्दो में कहा है—

> अन्ने बाहर जे नर होवहि, तीन लोक महि अपनो खोवहि।
> अन्ने बिना न होय सुकाल, तजिए अन्न, न मिले गोपाल॥

अन्न त्यागने से गोपाल नही मिल सकते, आध्यात्मिक सिद्धि नही हो सकती यह कबीर का मत है।

परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यदि कबीर गाधी जी के स्थान मे होते तो वे भी आमरणोपवास का व्रत न ठान बैठते। क्योकि जिन महापुरुषो की किसी लक्ष्य की एकतान लगन होती है, औरो के लिए उनके विचारो की गति समझना बहुत कठिन काम है। सामान्य तर्क वहाँ बेकाम हो जाता है। ऐसे लोग बहुधा तर्काश्रित होने के बदले भावनाश्रित हो जाते हैं। समर्थ कवि की भाँति वे बेजाने अपनी भावनाओ मे डुबकी मारते बहते चलते है और साथ में जनसमाज को भी बहा ले जाते हैं। कबीर का यह व्यजित करना कि बकरी की खाल इसलिए निकाली जाती है कि वह पत्ती खाती है× और

×—बकरी पाती खात है, ताकी काढी खाल।
जो बकरी को खात है, तिनको कौन हवाल। —कबीर

गाधी का यह घोषित करना कि बिहार और क्वेटा के भूकम्पो का कारण अछूतता का कलक है, कुछ इसी प्रकार के है। इन कथनो की ओर दोनों महात्माओ का उतना ध्यान नही, जितना कबीर का इस पर कि बकरी नही खाना चाहिए और गाधी का इस पर कि अछूत भाव को मिट जाना चाहिए। मेरे कहने का यह अभिप्राय न समझना चाहिए कि कबीर या गाधी प्रचार की दृष्टि से जान-बूझकर घटनाओ को तोडते-मरोडते है और इस प्रकार जनता की भावुक प्रवृत्ति से अनुचित लाभ उठाना चाहते है। असल में उनकी भावना-मग्न दृष्टि में वे घटनाएँ दिखाई ही वैसी देती है। तार्किक दृष्टि से चाहे जो कहा जाये, मेरा हृदय इस बात का तीव्र अनुभव करता है कि इस मगलमूल भावनाश्रितता के आगे ससार का सारा तर्क निछावर कर दिया जा सकता है। ससार में यदि शास्त्रार्थी तार्किको के स्थान पर टालस्टाय के मूर्ख ईवानो की सृष्टि होती, जिन पर गाधी इतने अनुरक्त है, तो ससार अधिक शान्त और सुखी होता।

जनता गाधी को विशेषकर स्वराज्य-आन्दोलन के नायक के रूप मे जानती है। परन्तु उनका स्वराज्य भी आध्यात्मिक है। जनता का भौतिक स्वराज्य तो उसका एक बाहरी लक्षणमात्र है। स्वराज्य से उनका मूल अभिप्राय अपने 'स्व' के ऊपर यम, नियम, शम, दम के द्वारा राज्य करना है। इन्द्रियो को वश में कर काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि षड्रिपुओ के प्रभाव से बाहर निकल कर 'स्वराट्' होना ही असली स्वराज्य है। इनके प्राप्त हो जाने पर देश का स्वराज्य अपने आप साथ लगा चला आवेगा। इसी शर्त पर उन्होने एक वर्ष के भीतर स्वराज्य ले आने का आश्वासन दिया था। परन्तु उनकी शर्त असम्भव-सी थी। सबका गाधी होना, स्वराट् होना असाध्य है। इसी से लोगो की आशा पूरी नही हुई और चाहे जो हो, गाधी जी के लक्ष्य के सम्बन्ध मे दो मत नही हो सकते। इसमें सन्देह नही कि कबीर ने भी शुद्ध सयत जीवन के द्वारा आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश करने की ही प्रेरणा जन-समाज को की थी।

गांधी ने अपने अहिसा सिद्धान्त-द्वारा भारत के राजनैतिक जीवन में जिस सरलता, पवित्रता और ऋजुता को लाने का प्रयत्न किया है उसके सबध में सदेह की जगह नही और मानव जाति के जीवन के लिए जो महान् सम्भावनाएँ दिखला दी है उनका तो कहना ही क्या है। यह कहने के लिए उनके वास्तविक क्रियात्मक उपायो का अनुमोदन करना आवश्यक नहीं है। गाधी की शिक्षा आतकवादी युवको को सन्मार्ग पर लगाने का आज एक प्रधान साधन है। केवल राष्ट्रीय समस्याओ को हल करने में ही नही, अन्तर्राष्ट्रीय

उलझनों को सुलझाने म भी सत्याग्रह का सिद्धान्त काम में लाया जा सकता है। चाहे व्यक्तिगत व्यवहार हो, चाहे राष्ट्रीय, और चाहे अन्तर्राष्ट्रीय, गाधी बतलाते है कि यदि सत्य पर सदैव दृष्टि रक्खी जाय तो ऐसी स्थितियाँ आ ही नही सकती जो आदमी को एक दूसरे के खून का प्यासा बना दें। ऐसी दशा मे यदि गलतफहमी हो भी जाय तो सत्य के न्यायालय में उनका निराकरण आसानी से हो सकता है। बुराई का नाश करने के लिए बुरे का शत्रु होना जरूरी नही है। बुरे का मित्र होकर भी बुराई का नाश कर दिया जा सकता है। सत्य में निष्ठा और असत्य का बहिष्कार—यही एक सीधी-सादी-सी बात है, जिससे मनुष्य-जाति के प्रायः सब सकट दूर हो सकते है। गाधी की सत्य-निष्ठा ने उन्हें अमर बना दिया है। यदि मानव-जाति उनके सदेश को खाली सिर झुका कर ही न सुने, उसे उत्साह के साथ काम मे भी लावे, तो उसका अस्तित्व धन्य हो जाय। राष्ट्र-संघ यदि इस नीति को सर्वांश में अपना सकें तो गैसों, बमगोलो और तोपो का डर ही न रह जाय। प्रवचना-और कुटिलता-पूर्ण राजनीति के क्षेत्र मे सरल सत्य का इस प्रकार प्रवेश कराने के कारण महात्मा गांधी इस युग के ही नहीं, सब काल के सबसे बडे शान्ति के दूत है।

लोक-कल्याण तथा आत्म-कल्याण दोनो की दृष्टि से कबीर और गाधी दोनो ने गरीबी को अपनाया है। दैन्य, गरीबी, आध्यात्मिक-जीवन की एक बहुत बडी आवश्यकता है। गोलमेज कान्फ्रेंस के दिनो जिस समय गाधी जी लदन में गरीबी पर व्याख्यान दे रहे थे उस समय ऐसा ज्ञान पडता था मानो उनके मुँह से कबीर बोल रहे है। आध्यात्मिक अर्थ में अर्थ-सकट का नाम गरीबी नहीं है, जो मनुष्य की इच्छा के विरुद्ध उसके ऊपर आ घहराती है। वह तो एक स्वयं आमन्त्रित अवस्था है, जिसमे मनुष्य अपने को शून्य में परिणत कर देता है। गरीबी में गर्व के बिना आत्मप्रतिष्ठा, मूर्खता के बिना सरलता और गुलामी के बिना विनय प्रतिष्ठित है। इस गरीबी में धन के प्रति एक मानसिक समस्थिति रहती है, जिसके सतोष और त्याग दो पक्ष है। कबीर और गांधी के समान दीन न अर्थाभाव से दुखी हो सकते है और न धनागम से भयभीत। धनाभाव से दु:ख उसी को हो सकता है जो धन में ही सुख की अवस्थिति मानता है। और जो, जानता है कि आते हुए धन को, नाव में भरे आते हुए पानी के समान दोनो हाथो से परोपकार के लिए उलीच देना चाहिए, वह धन के आने से भयभीत क्यो होने लगा ?

यह गरीबी मनुष्य को परावलबी नहीं, स्वावलबी और उद्योगी बनाती है। गाधी जी उद्योग की महिमा से घर-घर में शाति और संतोष का साम्राज्य

देखना चाहते हैं। परिश्रम का उनके मत में आध्यात्मिक महत्त्व है। वे नित्य नियमित रूप से चरखा काता करते हैं, और प्रत्येक मनुष्य को काम करता हुआ देखना चाहते हैं। इसीलिये वे कांग्रेस का चन्दा चवन्नी के बदले कुछ हाथ का कता सूत रखना चाहते हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है कि दरिद्र भारत में परिश्रम ही परमात्मा है। भूखी हालत में परिश्रम का दूसरा रूप स्वीकार ही नही किया जा सकता। इसका सक्रिय स्वरूप उनके ग्रामोद्योग-सम्बन्धी नवीन आन्दोलनों में देखने को मिलता है। परमात्मा का आदेश है कि आदमी परिश्रम करके खाय। जो बिना काम किये खाता है वह उनके मत मे चोर है। कबीर का भी यही मत है। वे कहते हैं कि धधे में ही लगा रहना तो जरूर जीवन को धूल बनाना है परन्तु जो जीविकोपार्जन के लिए कोई धधा नहीं करता वह भी धुल नही सकता, परमात्मा को नही पा सकता।

जो धधै तो धूलि, विन धधै धूलै नही।

कबीर स्वयं करघे पर कपड़ा बुना करते थे। महात्मा गाँधी का चरखा परिश्रम का आवश्यकता का ही द्योतक है। वह सब उद्योगो का प्रतीक है। स्वदेशी-आन्दोलन वस्त्र से आरम्भ हुआ है। इसलिये चर्खे का प्रतीक ग्रहीत होना स्वाभाविक ही था। फिर भी क्या यह आश्चर्यजनक सयोग नही कि गाधी जी के हाथ से राष्ट्रीय जीवन मे तथा राष्ट्रीय पताका पर एक ऐसा प्रतीक प्रतिष्ठित हुआ जिसका कबीर के आनुवंशी पेशे से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है ? क्या गांधी के चरखे का कबीर के करघे से कोई सीधा लगाव है ?

औद्योगिक उत्थान को गांधी वास्तविक सुखशांति का प्रसारक बनाना चाहते हैं। नामदेव और त्रिलोचन की जीवनी से कबीर ने जो शिक्षा प्राप्त की थी—

"हाथ पाँव कर काम सब चित्त निरजन नालि"*

---

*—त्रिलोचन एक महाराष्ट्री साधु थे। नामदेव की प्रशंसा सुनकर वे बडी उत्कंठा से उनके दर्शनो को गए। वहाँ जाकर देखा तो उन्हे छीट छापते हुए पाया। उन्होने नामदेव से ग्लानि पूर्वक पूछा—

नामा माया मोहिया, कहै त्रिलोचन मीत।
काहे छापै छाइलै राम न लावै चीत ।।

नामदेव ने इसका उत्तर निर्विकार रूप से दिया—

नामा कहै तिलोचना मुखाँ राम सँभालि।
हाथ पाँव कर काम सब चित्त निरंजन नालि ।।

कबीर के ये दोहे आदि ग्रन्थ मे सगृहीत है।

वह गांधी के हृदय मे भी प्रतिष्ठित है । सत्य के प्रकाश के सम्मुख खुली रहने वाली उनकी आँखो को वर्तमान औद्योगिक सभ्यता की चकाचौंध चौंधिया नहीं सकती । चकाचौंध मात्र से कलो को स्वीकृति नहीं मिल सकती । वे तभी स्वीकार की जा सकती है जब मानव-जीवन में सुख और शान्ति की वृद्धि करने में अपनी व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध कर सकें । वर्तमान परिस्थिति मे तो कलें मनुष्यो को पीसती हुई चल रही है । वर्तमान औद्योगिक सभ्यता में आत्मा को कोई स्थान ही नही । इसीलिए वह अग्राह्य है । चरखा और सीने की कलें भी कलें ही है, परन्तु वे इसीलिए ग्राह्य है कि उनके द्वारा मनुष्य की मनुष्यता, उसकी आध्यात्मिकता नष्ट नही होती । वे मानव जाति की सुखशांति में सहायक होती है ।

गाधी की शाति-प्रसारक वाणी जगत् के कोने-कोने में पहुँच चुकी है । सारा जगत् आज उन्हें एक स्वर से इस युग का सबसे बडा महापुरुष मानता है । मुँह से कहने मे चाहे कोई हिचके, परन्तु रक स लकर सम्राटो तक के हृदय मे उनके प्रति अटूट श्रद्धा अंकित है । कबीर का नाम भी झोपडियो से लेकर महलों तक में अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है । इसका कारण यह है कि दोनों भारतीय आध्यात्मिकता के सच्चे प्रतिनिधि है । भारत अग्र-जन्माओं का देश है, जो अपने चरित्र से संसार को शिक्षा देते रहे है । भारत का यह अग्रजन्मत्व पॉच शताब्दी पहले कबीर के रूप में प्रकट हुआ था और आज गाधी के रूप मे प्रकट हुआ है । परमात्मा की जो विभूति मानवता का जो महत्त्व पन्द्रहवी शताब्दी मे कबीर कहलाया, वही आज गांधी है । केवल आवरण का भेद है, तथ्य का नही ।

यदि कबीर अपनी ही कविता के समान, सीधी-सादी भाषा में उल्लिखित आदर्श है, तो गांधी उसकी और भी सुबोध क्रियात्मक व्याख्या । यदि प्रत्येक व्यक्ति इस विशद व्याख्या की प्रतिलिपि बन सके तो जगत् का कल्याण हो जाय ।

आचार्य कवि केशवदास

निर्गुण भक्ति ने विदेशी अत्याचार के नीचे पिसती हुई जनता के हृदय की नैराश्यजन्य शुष्कता को कविता के क्रोड में सचित कर दिया था। कबीर की तल्लीनता यद्यपि सरस्वती की बीणा की झंकार की मधुरता को समय समय पर बलात उनकी जिह्वा पर लाकर बैठा देती थी, फिर भी उनके पीछे बहुत दिन तक यह बात न चल सकी। परपरा, संप्रदायो का प्रवर्तन कर सकती है पर कविता को अपने आँचल में बाँध नहीं ले जा सकती। परपरा के पालन के लिए कही गई साखियो या शब्दो मे न कविता का अतरग आ पाया और न बहिरंग। और आ भी कैसे सकता था? कविता का अतरंग या आत्मा भावों की तीव्रता है जिनका उद्भव हृदय की तल्लीनता के बिना असभव है। और वैसे तो बहिरंग सौंदर्य अतरग सौंदर्य का अनुसरण करता है पर कभी-कभी स्वाभाविक बाह्य सौंदर्य की वृद्धि के लिये बाहरी उपाय भी काम मे लाये जाते हैं। इसके लिये साहित्यशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। इन दोनो बातों से ये 'निर्गुनिए' साधु कोरे होते थे। न उनमें भावुकता होती थी और न पांडित्य ही। अधिक से अधिक मूल्य मानने पर उनकी वाणियाँ रूखी-सूखी भाषा मे लिखे गये दर्शनग्रंथ-मात्र कहे जा सकते हैं जिनका एक मात्र उद्देश्य वैराग्योत्पादन था, (यद्यपि दार्शनिक भी उनके दर्शन ग्रथ कहे जाने पर आपत्ति कर सकते हैं।) इसलिये वे तभी तक जनता को आकर्षित कर सकते थे जब तक उसे जीवन अप्रिय लगता रहा। परन्तु जब मुगलो ने भारतवासी होकर भारत पर शासन करना आरम्भ किया और लोगो को जीवन की सामान्य आवश्यकताओ के उपस्कर उपलब्ध होने लगे तब यह स्वाभाविक था कि इन फीकी बातो से हटकर उनकी रुचि सरसता और सुन्दरता की ओर झुकती। समय की इसी प्रवृत्ति ने साहित्य-क्षेत्र में एक ओर सगुण भक्ति का और दूसरी ओर साहित्य शास्त्र-चर्चा का वह प्रवाह चलाया जिसे किसी उपयुक्त नाम के अभाव में रीति-प्रवाह कह सकते हैं। सूर, तुलसी आदि सगुण भक्त कवियों ने वैराग्य-विमोहित

प्रयोजन

कविता में अंतरात्मा को फूँकने का प्रयत्न किया और रीति के आचार्य उसके बहिरंग को सँवार कर उसका ठाटबाट खडा करने में यत्नवान हुए। आगे चल कर मुगल दरबार की बढती हुई शानो-शौकत तथा ऐशो-इश्रत ने, जिसकी नकल करने में भारतीय राजाओ ने आपस मे स्पर्द्धा दिखाई, केशवदास-द्वारा प्रवर्तित रीति-प्रवाह को इतनी उत्तेजना दी कि भक्ति-प्रवाह थम सा गया और साहित्य-क्षेत्र मे रीति प्रवाह का ही साम्राज्य हो गया यद्यपि स्वयं केशव ने भी भक्ति-प्रवाह में कुछ योग दिया था।

केशव को रीति-प्रवाह का प्रवर्तक कहने से हमारा यह तात्पर्य नही कि हिंदी में उन्होंने पहले पहल साहित्य-शास्त्र पर कलम चलाई।

आचार्यत्व

उनसे पहले भी साहित्य-शास्त्र के अगो पर ग्रथ लिखे जा चुके थे। हिंदी साहित्य के इतिहास मे पुष्य नामक कवि सबसे पहला कवि समझा जाता है। शिवसिह सेंगर ने ७०० विक्रमाब्द में इसका होना लिखा है। कहते हैं, उसने अलंकार पर ही अपना ग्रथ लिखा था जो अब मिलता नही। गोप कवि ने भी अलकार के दो छोटे-छोटे ग्रथ लिखे थे पर वे भी अप्राप्य है। हिंदी-साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी सबसे पुरानी प्राप्य पुस्तके मोहन का शृगार-सागर और कृपाराम की हिततरगिनी है जो अकबर के राजत्वकाल में रची गई थी। इसी समय के लगभग रहीम ने बरवै छंदों में 'नायिकाभेद' लिखा और कर्णेश ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण तीन छोटे-छोटे ग्रथ लिखे। हिततरगिणी मे अत्यत सक्षेप मे रस का निरूपण है, शृगारसागर मे केवल शृगार रस का वर्णन है और कर्णेश के ग्रथ अलकार पर है। स्वय केशव के बडे भाई बलभद्र ने नखशिख और दूषण विचार पर लिखा था। परन्तु ये सब उथले और क्षीण प्रयत्न थे और लोकरुचि के परिवर्तन की दिशा के सकेतक होने पर भी साहित्य-शास्त्र के लिये विस्तीर्ण और अप्रतिबध मार्ग न खोल सके। इस दिशा में सबसे पहला विस्तृत और गभीर प्रयत्न केशव ही का था और यद्यपि उनके मत को हिंदी मे साहित्य-शास्त्र पर लिखनेवालो ने आधार रूप से नही ग्रहण किया, फिर भी उन्होने लोगों की प्रवृत्ति को एक विशेष दिशा की ओर पूर्णतया मोड दिया। इसीलिये वे रीति-प्रवाह के प्रवर्तक और प्रथम आचार्य माने जाते है। वे केवल लेखनी के ही मुँह से बोलनेवाले आचार्य नही थे, व्यावहारिक आचार्य भी थे। अपनी शिष्या प्रवीणराय के प्रतिनिधित्व से उन्होने कवि-समुदाय को कविता के वाह्यरूप की बनावट सिखाने का काम अपने हाथ में लिया था, और उस काम को करने के लिये वे सर्वथा योग्य भी थे। आचार्य में जिन

गुणों का होना आवश्यक है वे सब केशव में वर्तमान थे। वे सस्कृत के भारी पडित थे, साहित्य शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, विद्वान् थे, प्रतिभासपन्न थे और इद्रजीतसिंह के मुसाहिब, मत्री और राजगुरु होने के कारण ऐसे स्थान पर भी थे जहाँ से वे लोगो में अपने लिये आदर बुद्धि उत्पन्न कर सकते और अपने प्रभाव को बहुत गुरु बना सकते थे। केशव की ६ पुस्तको में से रामालंकृतमजरी, कविप्रिया और रसिकप्रिया साहित्य-शास्त्र से सबध रखती है। रामालकृतमजरी पिंगल पर लिखी गई है, कविप्रिया अलकार ग्रथ है और रसिकप्रिया में रस नायिकाभेद, वृत्ति आदि बातो पर विचार किया गया है। रामालकृतमजरी अभी छपी नही है। कहते है, उसकी एक हस्त-लिखित प्रति ओडछा दरबार के पुस्तकालय में है।

जहाँ तक सम्भव होता है हिंदी सभी विद्याओं के लिए सस्कृत की ओर मुडती है, यह उसका दायाधिकार है। केशव ने भी हिंदी साहित्यशास्त्र के उत्पादन में अपने संस्कृत ज्ञान मे लाभ उठाया। केशव का समय संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास का वह युग है जिसमें सकलन और सश्लेषण का क्रम जोरो पर था। प्राचीन रसमार्ग आलकारिको और रीतिमार्गियो के प्रचड आक्रमणो को सहकर भी मम्मट आदि नवीन रसमार्गियो के प्रयत्न से अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया था। ध्वनिमार्ग आगे चलकर उसकी प्रतिद्वद्विता मे खडा हुआ था पर वह भी उसका पोषक बन बैठा था। यद्यपि रस के वास्तविक स्वरूप के विषय मे अप्पय दीक्षित और पडितराज जगन्नाथ के वाद-विवाद के लिए अभी स्थान था पर फिर भी शास्त्रकारो ने यह निश्चित कर लिया था कि काव्य में सारभूत अतरग वस्तु, रस है और अलकार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके सहायक है, विरोधी नही, और न्यूनाधिक रूप से सभी का काव्य से स्थायी सबध है। अतएव साहित्य-शास्त्रकार अब विरोधी मतो से बहुत कुछ विरोधी अश निकालकर साहित्य-शास्त्र के भिन्न-भिन्न अगो के सामजस्य से एक पूर्ण पद्धति बना रहे थे। विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण और उसके समान अन्य ग्रथ इसी प्रयत्न के फल थे। वैसे तो कवित्व शक्ति ईश्वरीय देन है; कहा भी है कि कवि जन्म से होता है बनाने से नही, पर साहित्य शास्त्र के नियम बन जाने पर उन लोगों को भी कवि बनने का चस्का लगने लगा जो सहज कवि न थे। ऐसे लोगो की आवश्यकता की पूर्ति के लिए आचार्यो ने विषयो का भी वर्गी-करण कर दिया कवि को किन किन विषयो पर कविता करना चाहिए किन पर नहीं, उसे क्या क्या अनुभव होने चाहिएँ आदि बाते उनके

अभ्यास के लिए लिखी गईं। इस प्रकार कवि-शिक्षा पर लिखा जाने लगा। केशव इन्ही पिछले ढग के आचार्यो में है। सस्कृत से चली आती हुई इसी परम्परा को उन्होने हिंदी मे जारी रखा।

केशवदास ने कवि-शिक्षा का विषय कोट कॉगडा के राजा माणिक्यचद्र के आश्रय मे रहनेवाले केशव मिश्र के अलकारशेखर नामक ग्रंथ के वर्णक रत्न (अध्याय) से लिया है। अलंकार-शेखर कविप्रिया के कोई ३० वर्ष पहले लिखा गया होगा। इसके वर्णक रत्न में केशव मिश्र ने उन विषयो का वर्णन किया है जिन पर कविता की जानी चाहिए यथा भिन्न-भिन्न रग, नदी, नगर, सूर्योदय, राजाओं की चर्या आदि। केशवदास ने इन विषयो को वर्णालकार और वर्ण्यालकार इन दो भागो में बॉटा है। वर्णालकार के अतर्गत भिन्न-भिन्न रंग लिए गए है और शेष वर्णनीय विषय वर्ण्यालकार में है। अलकार शब्द का यह विलक्षण प्रयोग है। शास्त्रीय शब्द अलकार के लिए केशवदास ने विशेषालंकार शब्द का व्यवहार किया है। इस प्रकार केशव ने अलकार का अर्थ विस्तृत कर दिया जिसके वर्णालंकार, वर्ण्यालंकार और विशेषालकार तीन भेद हो गए। विशेषालंकारों अर्थात् काव्यालंकारों के विषय मे केशवदास ने विशेष कर दंडी का अनुसरण किया है। अध्याय के अध्याय काव्यप्रकाश से लिये गए है। कहीं-कही राजानक रुय्यक से भी सामग्री ली गई है। विषय-प्रतिपादन के साधारण ढंग को सामयिक परंपरा से प्राप्त करने पर भी प्रधान अगों पर बहुत पुराने आचार्यो का आश्रय लेने का फल यह हुआ कि रस की मिठास का मूल्य अलंकारों की झनझनाहट के सामने कुछ न रह गया। साहित्य-शास्त्र के साम्राज्य में रस को पदच्युत होकर अलकार की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी और रसवत् अलंकार के रूप में उसका छत्रवाहक होना पडा। पुराने रीतिमार्गी आचार्य इतनी दूर तक नहीं गए थे। वे रसवत् अलंकार वही मानते थे जहाँ एक रस दूसरे रस का पोषक होकर आवे किंतु केशव की व्यवस्था के अनुसार जहाँ कहीं रसमय वर्णन हो वहीं रसवत् अलंकार हो जाता है। सूक्ष्म-भेद-विधान की ओर केशव ने बहुत रुचि दिखलाई है। उन्होने उपमा के बाइस और श्लेष के तेरह भेद बताए है। केवल संख्या-वृद्धि के उद्देश्य से भी कुछ अलंकार ऐसे रखे गए है जिन्हें शास्त्रीय अर्थ में अलंकार नही कह सकते, जैसे प्रेमालंकार और ऊर्जालंकार। जहाँ प्रेम का वर्णन हो वहाँ प्रेमालंकार और जहाँ और सहायकों के कम हो जाने पर भी अलंकार बना रहे वहाँ ऊर्जालंकार। प्रेम के वर्णन से काव्य की शोभा बढ़ सकती है पर वह अलंकार नही हो सकता। गाल की नैसर्गिक गुलाबी सौंदर्य को बढ़ा सकती है पर आप

उसे पेंट और पाउडर या सिंदूर और लाक्षारस के साथ शृंगार की पिटारी में नही रख सकते। रसिकप्रिया मे रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि विषयो का परंपरानुबद्ध वर्णन किया गया है। भेदोपभेद-विधान की तत्परता उसमें भी अधिकता से दिखाई गई है नायिकाओ का (पद्मिनी, चित्रिणी आदि) जातिनिर्णय भी काव्यशास्त्र के अतर्गत ले लिया गया है यद्यपि उसका कामशास्त्र से ही सम्बन्ध है। स्वय केशव की कविता में पवित्रता का अभाव नही है पर आगे चलकर इस प्रवृति ने कविता के पाविञ्य पर कुठाराघात किया और कविता को कामोद्दीपन की सामग्री बना दिया। रसिक काव्य-रस का प्रेमी नही रहा, स्त्रियो से छेडछाड पसद करनेवाला हो गया।

केशव केसन अस करी जस अरिहू न कराहि।
चंद्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहि ।।

यह रसिकता के उदाहरणरूप में पेश किया जाता है। स्नान के घाट कवियो के अड्डे हो गए।

इन ग्रथो में केशव का बहुत शक्तिमान प्रयत्न निहित है जिससे उनकी इतनी धाक बैठी कि लोकरुचि के विशेष दिशा में मुड जाने पर भी बहुत समय तक किसी को इस विषय पर कलम उठाने का साहस न हुआ। पर जब लोगो ने लिखना आरम्भ किया तो आचार्यो की बाढ सी आ गई। सभी नायिकाभेद, नखशिख, अलकार और रस पर लिखने लगे। इन पर लिखे बिना कवि-कर्म अधूरा समझा जाने लगा। पर केशव को कोई भी आधार बनाकर नहीं चला और यह उचित ही हुआ, क्योकि केशव भारतीय साहित्यशास्त्र की प्रगति के इतिहास की कई शताब्दियाँ निगल जाना चाहते थे। उनके बाद जयदेव के चद्रालोक आदि ग्रथो का अनुसरण किया गया। राजा जसवतसिंह का सर्वप्रिय ग्रथ भाषाभूषण इसी चद्रालोक का छायानुवाद है।

हम देख चुके है कि ऐतिहासिक कारणो से भी रीति-प्रवाह को भारी उत्तेजना मिली जिसका आरभ में उल्लेख किया जा चुका है। इस सब का फल यह हुआ कि कविता मे आडबर और कृत्रिमता ने अपना घर कर लिया, अतरंग की अपेक्षा होने लगी और अन्त मे शब्दो की टेढी मेढ़ी करामात और रीति की रीती खडखडाहट ही कविता समझी जाने लगी। हद तक पहुँच जाने पर इस प्रवाह ने पलटा खाया और प्रतिफल में आज लोग दूसरी हद तक पहुँचना चाहते हैं। कविता के बहिरग को वे केवल अपने ही भाग्य पर नही छोड़ देना चाहते, बाधा मानकर विद्वेष की दृष्टि से भी देखते हैं। हिंदी की वर्तमान छायावादी कविता इसी मार्ग का अनुसरण कर रही है।

इसमें संदेह नहीं कि अतरात्मा बाह्य रूप से हर हालत मे महत्वपूर्ण होती है, परन्तु बाह्य रूप भी निरर्थक नही। उसकी अपनी उपयोगिता है। अतरग आँखों के सामने नही रहता, वह हमेशा छिपा रहता है। उसको देखने के लिए तीव्र अतर्दृष्टि और उसका आनंदोपभोग करने के लिए कोमल हृदय चाहिए जो हर एक में नही हो सकता। परन्तु बाहरी सौदर्य के सबके दृष्टिपथ पर खुले रहने से पहले तो अनायास ही सब उसके पास खिचे आते है, आगे चलकर मेल-जोल बढ जाने पर विरक्ति हो जाय तो हो जाय। कितने लोग है जो किसी युवती के बाह्य रूप पर मोहित होने के लिए उसके आंतरिक सौदर्य को देखने तक ठहरे रहते है? मनोहर सगीत को सुनकर हरिणी जो मग्ध हो जाती है वह उसमे व्याप्त भाव या रस को अवगत कर नही! कविता मे जो नादात्मक सौदय होता है वह इसी बाह्यरूप के अतर्गत है। यदि बाह्यरूप को कुछ उपयोगिता ही न होती तो सस्कृत के धुरधर साहित्याचार्य रीति अलंकार या बक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कह डालने की भीषण गलती करने को बाध्य न होते। और कुछ न सही तो इतना मानना पडेगा कि यह बाह्य रूप जन साधारण को काव्य की ओर आकृष्ट करता है जिससे काव्य के साथ सपर्क रहने से धीरे-धीरे उनमे उत्कृष्ट काव्य को समझने तथा उसके रस का आनन्द उठाने की योग्यता आ जाती है। साहित्यिको की भाषा मे कह सकते है कि वे सहृदय हो जाते है क्योकि सहृदयता सहजात ही नही होती, जन्म के उपरान्त पडनेवाले प्रभावो का फल भी हो सकती है जिनमें काव्य जगत् से सपर्क भी एक है। इस सपर्क का प्रभाव उस अवस्था मे और भी आशामय हो जाता है जब पाठक वा श्रोता के सामने बाहरी ठाट के साथ अतरात्मा भी हो। कोरे ठाट बाट से काम न चलेगा। पूरा प्रभाव तभी पड सकता है जब यह बाहरी ठाट बाट स्वय साध्य न होकर उस दूसरे प्रभाव का साधन हो जो कुछ स्थायित्व लिए हो, जो हमारे मर्म को छूकर हमारे अस्तित्व का अपरिज्ञेय भाग होकर ठहरे। ऐसा होने से फिर विरक्ति की वह आशका रह ही नही जाती जो अभी-अभी कुछ समय हुए उठी थी। अतएव बहिरंग सौदर्य को अन्तरग सौदर्य का सहायक होना चाहिए, और उतनी ही मात्रा मे होना चाहिए जितनी मे वह सौदर्य की परिभाषा के अन्दर रह सके। उसका इतना बाहुल्य न हो कि कविता बेचारी उसके नीचे दिखाई ही न पड़े या कुचलकर उसकी दुर्दशा हो जाय। जूड़े के

अंतरग और बहिरंग का तारतम्य

साथ गुथा हुआ एक पुष्प, फूलो का एक गजरा या मोतियो की एक लडी या और कोई स्वल्प आभरण ललना के लावण्य को बढा सकता है पर यदि उसके नाक, कान फोडकर या उसे सुफेद अथवा पीली धातु या रंग-बिरगे पत्थरों से लादकर यह प्रभाव लाया चाहो तो कैसे बन सकता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि साध्य को साधन के लिये बलिदान नही कर देना चाहिए ।

बहिरग के लिए अतरात्मा के बलिदान की सब से बडी आशका तब होती है जब लक्षणकार स्वय कवि बन बैठता है । साहित्य-शास्त्र कविता का व्याकरण है । कविता ही उसकी सृष्टि का कारण है । अतएव उसे कविता का अनुगमन करना चाहिए, उसका अग्रगामी नही बनना चाहिए । लक्षणकार का कर्तव्य है कि वह अपने लक्षणो के उदाहरण कविता के साम्राज्य से ढूँढ-ढूँढ कर प्रस्तुत करे, उसे अपने आप उन्हें गढने का जबर्दस्ती प्रयत्न न करना चाहिए : मनुष्य-शरीर के पार्थिव तत्वो का विश्लेषण किया जा सकता है परन्तु वह रासायनिक विश्लेषक यदि चाहे कि उन तत्वो के मेल से जीता-जागता मनुष्य खडा करदे तो यह असभव है, इसके लिए परमात्मा ने दूसरी ही प्रयोग-शाला बनाई है । साहित्यशास्त्र के नियम भी कविता के विश्लेषण के परिणाम है । उनके ही आधार पर कविता का ढाँचा भर खडा किया जा सकता है जो कितना ही सुन्दर क्यो न हो आखिर निर्जीव ढाँचा ही तो है । केशवदास ने अपने लक्षण ग्रथो में कुछ स्वतत्र चिन्तन और समन्वय-बुद्धि का परिचय दिया है परन्तु जबर्दस्ती स्वयं ही उदाहरण गढ़ने का एक ऐसा आदर्श उन्होने अपने अनुयायियो के सामने रखा जिससे साहित्य-शास्त्र और काव्य-साम्राज्य दोनो का अहित हुआ । आचार्य लोग साहित्य के विश्लेषण से नवीन नियमो का अन्वेषण कर उसके रहस्यो के उद्घाटन का कार्य छोडकर उदाहरण ही गढने मे अपनी शक्ति व्यय करने लगे । इससे साहित्यशास्त्र में तो कोई उन्नति न हुई, हाँ, कविता के भाडार में असली के साथ साथ नकली सिक्के खूब भर गए, वहाँ की बात ही दूसरी है जहाँ सामयिक लहर मे पडकर कवियो को लक्षणकार बनना पडा ।

केशव की रचनाएँ लक्षणो और उदाहरणो में ही समाप्त नही हो जाती । ऊपर कहे गए लक्षण-ग्रथो के अतरिक्त उन्होने और चार ग्रथो की रचना की । रामचन्द्रिका, जहाँगीर-जस-चद्रिका, वीरसिह-देवचरित और विज्ञानगीता । जहाँगीर-जस-चद्रिका और वीरसिह-देव-चरित क्रमशः जहाँगीर और वीरसिहदेव की प्रशंसा में लिखे गए है । विज्ञानगीता एक प्रकार से क्षीणप्राय निर्गुण भक्ति का ही विरक्ति

कवित्व

प्रचारक अवशेष है। रामचंद्रिका केशव की सबसे उत्कृष्ट रचना है पर उसकी रचना भी ऐसी मालूम होती है कि मानो भिन्न भिन्न लक्षणों के उदाहरण-स्वरूप रचे गए पद्यो का तरतीबवार संग्रह हो। दूषणो तक के उदाहरण उसमें मिलते है। छंदो की ओर दृष्टि डालने से तो यह पिंगल का सा ग्रंथ मालूम पडता है। आदि मे एकाक्षरी से लेकर कई अक्षरो तक के छंदो का क्रमशः एक ही स्थान पर मिलना इस विचार को पुष्ट करता है कि हो न हो केशव रामचंद्रिका के पहले पिंगल ही का ग्रंथ बना रहे थे, परन्तु विषय की संभावनाओ तथा सगुणभक्ति के प्रवाह मे योग देने की इच्छा से उन्होने वह रूप दे डाला जो हमे आज पढने को मिलता है। रामालंकृतमंजरी केशव का बनाया हुआ एक पिंगल ग्रंथ है, यह हम कह चुके है। रामचंद्रिका की कुछ हस्त-लिखित प्रतियो मे कुछ छंदो के नीचे यथा 'रामालंकृत-मंजर्या' लिखकर उन छंदो के लक्षण लिखे है। संभव है रामचंद्रिका, रामालंकृतमंजरी का परिवर्तित या परिवर्धित रूप हो या ये छंद रामालंकृतमंजरी मे दिए गए हो। रामचंद्रिका के बहुत से छंद कविप्रिया में भी उदाहरण-स्वरूप दिए गए है। रामालंकृतमंजरी का समय तो ज्ञात नही पर यदि कविप्रिया और रामचंद्रिका का समय ज्ञात न होता तो हमारी यही कहने की प्रवृत्ति होती कि यह ग्रंथ भिन्न भिन्न लक्षण ग्रंथो से संकलित कर संगृहीत किया गया है।

बाबा बेनीमाधवदास ने अपने मूल गुसाईंचरित मे लिखा है कि एक बार केशवदास जी तुलसीदास जी से मिलने गए, पर वे तुरन्त ही उनके स्वागत के लिये न आसके। केशव जी समझे कि इन्हे रामचरितमानस रचने का बडा गर्व हो गया है, उसे दूर करना चाहिए। उलटे पाँवो वापिस आकर उन्होने एक ही रात में रामचंद्रिका बनाकर तुलसीदासजी को दिखा दी। रामचंद्रिका सरीखे बृहद्ग्रंथ को एकही रात मे नकल कर सकना भी असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, उसे रचने की बात तो दूर रही। क्या यह प्रकारांतर से यह सूचित करने के लिए तो नही कहा गया है कि रामचन्द्रिका एक संग्रह ग्रंथ मात्र है। गम्भीर प्रकृति के लोगो को यह सब निरर्थक प्रलाप मालूम होगा। इसके बल पर हम यह भी नही कहना चाहते कि अवश्य ही रामचन्द्रिका लक्षणो के उदाहरणो का संग्रह है, पर इतना अवश्य है कि रामचंद्रिका को लिखते समय केशव की आँखो के सामने वे लक्षण सर्वदा बने रहते थे जिन्हे उन्होने आगे चलकर ग्रंथ रूप मे प्रकट किया। इसीसे रामचन्द्रिका में भी कविता का आभ्यंतर कम आ पाया है। कविता के अन्तरंग

और बहिरंग का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। कवि के साधन की ओर दृष्टि रखकर इन्ही को 'हृदय-पक्ष' 'कला-पक्ष' कहा जाता है। हृदय का सम्बन्ध हमारे रागो या भावो से है और कला बुद्धि की उपज है।

हिंदी में सच्ची आलोचना के प्रवर्तक श्रद्धेय गुरुवर पडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'कविता' वह साधन है जो सारी सृष्टि से हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। यह काम न गढ़े हुए उदाहरणो, या फर्मायिशी पद्यो से हो सकता है और न चाटुकारी के लिए की गई झूठी प्रशसा से। हमारा तात्पर्य यह नही है कि लक्षणो के उदाहरण रूप मे या राजाओ की तारीफ मे उत्कृष्ट काव्य हो ही नही सकता। यह इस बात पर निर्भर है कि रचयिता के रागो का अपने वर्ण्य विषय से कितना घना सम्बन्ध है। भूषण का शिवराजभूषण भी अलकार ग्रथ है और एक राजा की प्रशसा में लिखा गया है। फिर भी भूषण का काव्य उत्कृष्ट काव्य है, क्योकि भूषण की प्रशसा झूठी प्रशसा नही है। केशव की शब्दावली का व्यवहार करें तो उनकी 'सत्यभाषिणी मति' है। यह मतलब नही कि कवि बिल्कुल सच बोले। कवि-सत्य साधारण या वास्तविक सत्य नही होता, हार्दिक सत्य होता है। जिस बात को कवि सत्य समझता है, चाहे वह झूठ ही क्यो न हो, इस प्रकार कहना कि श्रोता भी उसे ठीक उसी भाव मे समझ जाय जिस भाव मे कवि समझता है, अर्थात् उसमे उसकी वृत्ति रम जाय, कवि-सत्य कहाता है। परन्तु यह बात तब तक नही हो सकती जब तक स्वय कवि की वृत्ति उसमे न रमी हो, जब तक स्वय उसे अपने कथन की सत्यता पर अटल विश्वास न हो। कवि को जब किसी बात की सत्यता मे पूर्ण विश्वास हो जाता है तब उसकी मागलिकता का, उसके सौदर्य का उसके आनन्द का वह स्वय अकेले ही उपभोग नही कर सकता क्योकि वह स्वार्थी नही होता। वह चाहता है कि सारा ससार उसके आनन्द को बाँटकर बढावे, और जब तक वह उस सत्य के सदेश को कह नही डालता तब तक उमग का एक बोझ उसके हृदय पर पडा रहता है, जो उसे चैन नही लेने देता। यही बेचैनी कवि की वाणी को वह अबाध प्रवाह, वह अप्रतिहत गति देती है जो सीधे श्रोता या पाठक के अन्तस्तल मे पहुँचकर वहाँ भी उथल पुथल मचा देती है। भूषण के दिल में ऐसी ही बेचैनी थी। १८,००,००० की थैली, १८ हाथी और १८ गाँव पाने की नीयत से उसने अपना 'इन्द्र जिमि जभ पर बाडव सुअभ पर' वाला कवित्त नही कहा था, बल्कि अपने दिल के गबार बाहर निकालकर उसे हलका करने के लिए, हिंदुत्व के सदेश

को जन साधारण के दिल को गहराई तक पहुँचाने के लिए, उसकी रक्षा के सत्य स्वरूप को प्रत्यक्ष करने के लिए। शिवाजी और भूषण को अलग अलग व्यक्ति नही समझना चाहिए। वे एक ही घटनावली के दो पक्ष थे। हिन्दुत्व की प्रदीप्त आत्मा कर्म-क्षेत्र में शिवाजी और भावना क्षेत्र में भूषण के रूप में जाज्वल्यमती हुई। भूषण भावना-क्षेत्र के शिवाजी थे, और शिवाजी कर्म-क्षेत्र के भूषण परन्तु क्या केशव के विषय में ऐसी कोई बात कही जा सकती है ? क्या उसमे वह बेचैनी नजर आती है, क्या वह रागात्मक तल्लीनता दिखाई देती है जिसके कारण भूषण का काव्य उच्च कोटि के काव्य में परिगणित होने के योग्य हुआ है ? 'अपयश की गोली' खिलाने योग्य बीरबल, केशव को ६,००,००० का दान देने पर, उसी दम ऐसे यश का भागी हो जाता है कि उनके दान के प्रभाव से—

भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो।

इद्रजीत को भी उन्होने इसलिये प्रशसा नही की कि उनमें कुछ ऐसे गुण थे कि जिनके कारण कवि का मन उमगित होता है और उसके हृदय में सद्भावनाएँ उद्दीप्त होती है किंतु इसलिए कि उनके

'राज केसौदास राज सो करत है।'

केशवदास राजा की तरह रहते थे, यह सुनकर आजकल के अपुरस्कृत कवियो के दिल से 'आह' भले ही निकल जाय पर इद्रजीतसिह अथवा वीरसिह-देव के साथ जनसाधारण के चित्त का कोई रागात्मक सम्बन्ध नही जुड़ सकता, जब कि शिवाजी उद्भट योधा, निर्बलो के रक्षक और स्वतत्रता के उपासक होने के कारण बलात् चित्त की वृत्तियो को अपनी ओर खीच लेते है। यही कारण है कि वीरसिहदेव चरित और जहाँगीरजसचंद्रिका के नाम साहित्य के इतिहास-ग्रथो में ही मिलते है। रामचंद्रिका का पठन पाठन भी इने गिने धुरधर पडितो तक ही परिमित रहा। रामचद्रिका के आज बहुत से प्रशंसक मिल सकते है परन्तु उन्हें यदि जरा टटोल कर देखिये तो यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि वे रामचद्रिका का नाम ही नाम जानते है, (किसी परीक्षा के लिए विवश होकर पढनी ही पड़ी हो तो बात दूसरी है)। रामचद्रिका का नाम रामकथा की महिमा से हुआ है, केशव की कविता की हृदयस्पर्शिता से नही। सक्षेप में, केशव के काव्य मे हमे रागात्मक तत्व बहुत थोड़ा मिलता है।

इसका कारण यह जान पड़ता है कि उनका निरीक्षण बहुत परिमित था, उन्होने देखने का प्रयत्न ही नही किया। मनुष्यजीवन तो उनकी आँखो में

कुछ पड भी गया था पर प्रकृति मे अर्तांहित जीवन का स्पदन वे नहीं देख पाये। मनुष्य जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओ में जहाँ उनकी दृष्टि गई है वहाँ उनकी भावुकता भी जाग्रत हो गई है। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

उसके सुख को देखकर जलनेवाली सौत को और जलाने की कौशल्या की यह इच्छा कितनी स्वाभाविक है,

रहो चुप ह्वै सुत क्यो बन जाहु
न देखि सके तिनके उर दाहु,

और जो नासमझी और चारित्रिक निर्बलता के कारण अपने ही प्रिय का अपकारी बन जाय ऐसे आदरणीय के प्रति भी यह उपेक्षा और झुँझलाहट भी—

लगी अब बाप तुम्हारेहि बाइ।

किसी अपने ही मुँह से अपनी तारीफ करनेवाले की गर्वोक्तियाँ सुनकर दिल में खुदबखुद तानेजनी की जो उमग उठती है उसे परशुराम के प्रति भरत के इस कथन मे देखिए—

हैहय मारे नृपति सँहारे सो यस ले किन युग युग जीजै।

दूसरे प्रकार के प्रसग में यही भाव मैथ्यूआर्नल्ड ने इस प्रकार प्रकाशित किया है

टेक हीड लस्ट मेन शुड से
लाइक सम ओल्ड माइजर, रुस्तम हार्ड्स हिज फेम
ऐंड शस टु पेरिल इट विद यगर मेन।

प्रभाव प्रकारातर से दोनो का एक ही पडता है। भड़काने का यह अच्छा तरीका है।

भय और लज्जा से मनुष्य किस प्रकार सिकुड जाता है, वह रावण के सामने सीता की उस दशा में दिखाया गया है जिसमें उन्होंने

सबै अग लै अग ही मे दुरायो।

मनुष्य पर जब घोर आपत्ति आती है तब वह पागल सा हो जाता है। वियोग भी ऐसी ही आपत्ति है, जिसमे वियुक्त अपनी सुध-बुध भूल जाता है, अपनी परिस्थिति को नही देखता, कंकड़ पत्थर से भी प्रश्न करके उत्तर की प्रतीक्षा करता है। परन्तु यह पागलपन मानसिक अव्यवस्था का फल नही होता बल्कि प्रियाभिमुख अत्यत सजग राग का निकास है। हनुमान राम की

मुद्रिका साथ ले आए थे जिसको दिखाकर उन्होने सीता को विश्वास दिलाया कि मै राम का ही दूत हूँ। उस मुंदरी के प्रति सीता जी के इस भावपूर्ण कथन में भी यही बात देखने को मिलती है—

श्रीपुर मे बन मध्य हौ, तू मग करी अनीति ;
कहि मुँदरी अब तियन की को करिहै परतीत ?
कहि कुशल मुद्रिके ! रामगात•• •• • ••••

परन्तु यह निरीक्षण भी इतना पूर्ण नही था कि बहुत दूर तक केशव की सहायता कर सकता। कई मर्मस्पर्शी घटनाओ का भी उन्होने ऐसा वर्णन किया है जिससे मालूम होता है कि मनुष्य की मनोवृत्तियो को वे बहुत ही कम समझ पाए थे। यहाँ पर एक ही उदाहरण देगे।

रामचद्र कपट मृग को मारने गए थे। 'हा लक्ष्मण' शब्द सुनकर सीता ने सोचा कि राम लक्ष्मण को, सहायता के लिये, बुला रहे है पर लक्ष्मण ने सीता को अकेला छोडना ठीक नही समझा तब

"राजपुत्रिका कह्यो सो और को कहै, सुनै।"

लक्ष्मण को जाना पडा। वे सीता को अभिमत्रित रेखा के बाहर आने की मनाही कर चले गए। कपटयोगी रावण को भिक्षा देने के लिए सीता ने लक्ष्मण की शिक्षा का उल्लंघन किया और फलस्वरूप वे रावण द्वारा हरी गई। तब वे बिलखने लगी—

हा राम, हा रमन, हा रघुनाथ धीर ।।
लंकाधिनाथ वश जानहु मोहि वीर ।।
हा पुत्र लक्ष्मण छोडावहु वेगि मोहि ।
मार्तडवश यश की सब लाज तोहि ।।

यदि केशवदास मनोवृत्तियों से परिचित होते तो इस अवसर पर इस अपील में उनकी सीता अपना हृदय खोलकर रख देती; अपनी निस्स-हाय अवस्था का जिक्र करती, अपने हर्ता की क्रूरता का जिक्र करती, उसे कोसतीं, केवल लंकाधिनाथ कहकर न रह जाती; लक्ष्मण को बुरा-भला कहने तथा उनका आदेश न मानने के लिए अपने आपको धिक्कारती, अपने पर व्यग छोड़ती। पर इस तार खबर में क्या है? और कहाँ तक आत्मीयता झलकती है? 'रमन' और 'पुत्र' को छोडकर कौन बात ऐसी है जिसको आपत्ति में पडी हुई स्त्री दूसरे के प्रति नही कह सकती? पर कई ऐसे स्थल तो उन्होने साफ छोड़ दिये है।

मनुष्यजीवन के अन्दर तो उनकी अंतर्दृष्टि कुछ दिखाई भी देती है पर प्रकृति के जितने भी वर्णन उन्होने दिए है वे प्रकृति-निरीक्षण का जरा भी परिचय नही देते । क्लिष्टता की दृष्टि से लोग उनकी तुलना मिल्टन से करते है । मिल्टन से उनको इतनी और समानता है कि उन्होने भी प्रकृति का परिचय कवि-परम्परा से पाया है । मिल्टन लावा (लार्क) पक्षी को खिडकी पर ला बैठाते है तो ये कही बिहार को तरफ विश्वामित्र के तपोवन में—

एला ललित लवग सग पु गीफल सोहै ।

कह चलते है । मालूम होता है कि प्रकृति के बीच वे आखे बन्द करके जाते थे, क्योकि प्रकृति के दर्शन से प्रकृत कवि के हृदय की भाँति उनका हृदय आनन्द से नाच नही उठता । प्रकृति के सौंदर्य से उनका हृदय द्रवीभूत नही होता । उनके हृदय का वह विस्तार नही है जो प्रकृति मे भी मनुष्य के सुख दु.ख के लिये सहानुभूति ढूँढ सकता है, जीवन का स्पदन देख सकता है, परमात्मा के अंतर्हित स्वरूप का आभास पा सकता है । फूल उनके लिए निरुद्देश्य फूलते है, नदियाँ बेमतलब बहती है, वायु निरर्थक चलती है । प्रकृति मे वे कोई सौंदर्य नही देखते, बेर उन्हे भयानक लगती है, वर्षा काली का स्वरूप सामने लाती है और उदीयमान अरुणिमामय सूर्य कापालिक के शोणित भरे खप्पर का स्वरूप उपस्थित करता है । प्रकृति की सुन्दरता केवल पुस्तको मे लिखी सुन्दरता है । सीताजी के वीणावादन से मुग्ध होकर घिर आए हुए मयूर की शिखा, सुए की नाक, कोकिल का कठ, हरिणी की आँखे, मराल के मन्द-मन्द चलने वाले पाँव इसलिए उनके राम से इनाम नही पाते कि ये चीजे वस्तुत सुन्दर है* बल्कि इसलिये कि कवि इन्हे परम्परा मे सुन्दर मानते चले आए है, नही तो इनमे कोई सुन्दरता नही । इसीलिये सीताजी के मुख की प्रशसा करते हुए वे कह गए है—

देखे मुख भावे अनदेखे ई कमल चन्द ।

कमल और चन्द्रमा देखने में सुन्दर नही लगते ? हद हो गई हृदयहीनता की !

---

* कबरी कुसुमालि सिखीन दई, गजकुम्भनि हारनि शोभ मई ।
मुकुता शुक सारिक नाक रचे, कटि-केहरि किंकिणि शोभ सचे ॥
दुलरी कल कोकिल कठ बनी, मृग खजन अजन भाँति ठनी ।
नृप-हंसनि नूपुर शोभ गिरी, कल हसनि कठनि कंठ सिरी ॥

कल्पना की बेपर की उडाने अलबत्ता केशव ने खूब मारी हैं। जहाँ किसी की कल्पना नही पहुँच सकती, वहाँ उनकी कल्पना पहुँच जाती है। उनकी उत्कट कल्पना के नमूने रामचन्द्रिका के किसी भी पन्ने को उलटकर देखने से मिल सकते है। यहाँ एक दो ही उदाहरण काफी होगे।

लंका में आग लगी है—

कचन को पघल्यो पुर पूर पयोनिधि मे पसरचो सो सुखी ह्वै ।
गग हजारमुखी गुनि 'केसो' गिरा मिली मानो अपार मुखी ह्वै ।।

अग्नि के बीच बैठी हुई सीता को देखकर उद्दीप्त हुई केशव की कल्पना अत्यन्त चमत्कारक है—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी, कि सग्राम की भूमि मे चन्डिका सी ।
मनो रत्न सिंहासनस्था सची है, किधौ रागिनी राग पूरे रची हैं ।।

पुस्तक म आगे पढते चले जाइए सारा वर्णन चमत्कार से परिपूर्ण मिलेगा पर इनकी कल्पना मस्तिष्क की उपज मात्र है, हृदय-जात नहीं। इसी से कभी कभी इनकी कल्पना ऐसे दृश्यो को अलंकार रूप में सामने लाती है जिनसे प्रस्तुत वस्तु का असली स्वरूप कुछ भी प्रत्यक्ष नही होता, पर जिसे प्रत्यक्ष करना अलंकारो का मुख्य उद्देश्य है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु के बीच केवल किसी बात मे बाहरी समानता ही नही होनी चाहिए, उन दोनो को एक समान भावनाओ का उद्भावक भी होना चाहिए। यदि आप मुलायम मलमल की श्वेतता की उपमा देते हुए बरसात की धुली हड्डी से उसकी समानता करना चाहे तो कहाँ तक उसके प्रति लोगो की रुचि को आकर्षित कर सकेंगे ? हाँ, मक्खन के साथ उसकी समानता करने से अवश्य यह काम हो सकता है। मक्खन कोमल और श्वेत होने के साथ साथ प्रिय वस्तु है जब कि हड्डी कठोर तो है ही, घृणा भी पैदा करती है। केशव का बालारुण को देखकर यह सदेह करना कि—

कै श्रोणितकलित कपाल यह किल कपालिका काल को

हड्डीवाली उपमा ही के समान है।

इसके साथ सदेहालंकार के जो और पक्ष हैं और जो एक उत्प्रक्षा है, व इसके विरोध में कितने मनोरम लगते है—

अरुणगात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय ।
मानहुँ केशवदास कोकनद कोक प्रेममय ।।

परिपूरण सिंदूर पूर कैधौ मंगल-घट ।
किधौ शक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूष पट ।।
कै श्रोणितकलित कपाल यह किल कपालिका काल को ।
यह ललित लाल कैधो लसत दिग्भामिनि के भाल को ।।

बस एक पंक्ति ने सारा गुड गोबर कर दिया है । कहीं कही तो प्रस्तुत वस्तु ऐसे अरुचिकर रूप मे सामने आती है कि केशव की रुचि पर तरस आए बिना नहीं रहता । वे एक जगह रामचन्द्र की उपमा उल्लू से दे गए हैं—

वासर की सम्पति उलूक ज्यो न चितवत ।

और कहीं कही पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु मे कुछ भी समानता नही होती, केवल शब्द साम्य के बल पर अलकार गढ लिए गए हैं । पचवटी का यह वर्णन लीजिए—

पाडव की प्रतिमा सम लेखो, अर्जुन भीम महामति देखो ।
है सुभगा सम दीपति पूरी, सिंदुर की तिलकावलि रूरी ।।
राजति है यह ज्यो कुल कन्या, धाइ बिराजति है सँग धन्या ।
केलिथली जनु श्री गिरिजा की, शोभ धरे सितकठ प्रभा की ।।

अब बताइए अर्जुन से अर्जुन के पेड का, भीम से अम्लवेतस का, सिंदूर के तिलक से सिंदूर के पेड़ का और दूध पिलानेवाली धाय से धाय के पेड़ का क्या सादृश्य है ? सिवाय इसके कि कोश मे एक शब्द दोनों का पर्यायवाची मिलता है ? इसे यदि किसी का जी खिलवाड कहने का करे तो उसका इसमें क्या दोष ? इस शब्दसाम्य के कारण कही-कही पर तो केशव के पद्य बिल्कुल पहेली हो गए हैं और खासकर वहाँ जहाँ उन्होने सभंगपद श्लेष के द्वारा एक ही पद्य में दो-दो, तीन-तीन अर्थ ठूँसने का प्रयत्न किया है ।

'जाको देन न चहे बिदाई, पूछै केशव की कविताई'

का यही रहस्य है ।

हाँ, तो केशवदासजी मे कलापक्ष अत्यन्त प्रबल है। उनकी बुद्धि प्रखर है और दरबारी होने के कारण उनका वाग्वैदग्ध्य ऊँचे दरजे का है । रामचद्रिका सुन्दर और सजीव वार्तालापो से भरी हुई है । व्यजनाएँ कई स्थानो पर बहुत अच्छी हुई है पर वस्तु या अलकार की, भाव की नही—

कैसे बँधायो ? जो सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो ।

मैंने (हनुमान ने) तेरी सोती हुई स्त्री को देखा भर था इस पाप से बाँधा गया हूँ परन्तु तेरी (रावण की) क्या दशा होगी जो पराई स्त्री को पापबुद्धि से हर लाया है; यह व्यजित है।

नए और लोकोपकारी विचारो की भी उन्होंने ने खूब उद्भावना की है। इसका सबसे अच्छा एक उदाहरण उस लथाड़ में है जो उन्होंने लव के मुँह से विभीषण को दिलाई है। जिस खूबी से रावण ने अगद को फोडने का प्रयत्न किया था उससे उनकी राजनीतिज्ञता का परिचय मिलता है। अपनी सी निपुणता के कारण वे वीरसिहदेव का जुरमाना माफ कराने के लिए दिल्ली भेजे गए थे। राज-व्यवहार वे अच्छी तरह जानते थे। राज-सभा में रावण का आतक प्रतिहारी की इस भिडकी मे अकित है—

पढै विरचि मौन वेद जीव सोर छडि रे,
कुबेर बेर कै कही न जच्छ भीर मडि रे।
दिनेस जाइ दूरि बैठु नारदादि संग ही,
न बोलु चंद मद बुद्धि, इद्रकी सभा नही।।

जरा विषय के बाहर चला जा रहा था। सक्षेप में, अपने निरीक्षण से एकत्र की हुई सामग्री को विचारो के पुष्ट ढाँचे में ढालकर, उसे कल्पना का सौदर्य देकर, तथा रागात्मिकता का उसमे जीवन फूँककर ही सफल कवि कविता का जीता जागता मनोहर रूप खडा कर सकता है। जिसमें ये सब बातें न होगी उसे यद्यपि हम कवि कहने से इकार न कर सके, तथापि सफल कवि कहने को बाध्य नही किए जा सकते। केशवजी मे विचारो की पुष्टता है, कल्पना की उड़ान है, और यद्यपि रागात्मकता का सर्वथा अभाव नही है फिर भी प्राय: अभाव ही सा है। निरीक्षण भी उनका एकदेशीय है जो मनुष्य के जीवन-व्यवहार ही से सम्बन्ध रखता है, मनुष्य की मनोवृत्तियो पर उनका उतना अधिकार नही है और प्रकृतिनिरीक्षण तो उनमें है ही नही। भाषा भी उनकी काव्योपयोगी नही है; माधुर्य और प्रसाद गुण से तो जैसे वे खार खाए बैठे थे। परन्तु उनके नाम और उनकी करामात का ऐसा जादू है कि उन्हे महाकवि केशवदास कहे बिना जी ही नही मानता, यद्यपि कविता के प्रजातत्र मे 'महा' और 'लघु' के विचार के लिए स्थान नही है, क्योकि कविता यदि सच्ची कविता है तो, चाहे वह एक पक्ति हो या एक महाकाव्य, समान आदर की अधिकारिणी है और तदनुसार उनके रचयिता भी; वैसे तो महाकाव्य लिखनेवाले सैकडो महाकवि निकल

आयँगे। परन्तु यदि आदत से विवश होकर इस उपाधि का साहित्य-साम्राज्य मे प्रयोग आवश्यक ही हो तो उसे तुलसी और सूर के लिये सुरक्षित रखना चाहिए। हाँ, हिंदी के नवरत्नो में (कविरत्नो मे नही) केशव का स्थान वाद-विवाद की सीमा के बाहर है क्योकि साहित्य-शास्त्र की गभीर चर्चा के द्वारा उन्होने हिंदी के साहित्य क्षेत्र में एक नवीन ही मार्ग खोल दिया, जिसकी ओर उनसे पहले लोगो का बहुत कम ध्यान गया था।

भूषण का असली नाम

भूषण को हृदयराम-सुत रुद्रराम सोलंकी ने 'कवि-भूषण'† की उपाधि दी थी, जैसा कि शिवराजभूषण के इस दोहे से प्रकट है—

कुल सुलंकि चितकूट पति साहस सील समुद्र ।
कवि-भूषण पदवी दयी हृदयराम-सुत रुद्र ।। २८ ।।

इसके आधार पर यह भी विश्वास चला आ रहा है कि भूषण उनका असली नाम नही था, उपाधि मात्र थी । यदि वह बात सच है तो उनका नाम क्या था, यह जानने का आज कोई साधन नही है । इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान अवश्य लगाए जा रहे है । सबसे नया अनुमान है कि उनका नाम मनिराम था । अपने 'भूषण-विमर्श' मे पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने यह अनुमान लगाया है । इस अनुमान का आधार है प० बदरीदत्तजी पाडेय के 'कुमाऊँ का इतिहास' का यह कथन—‡

"कहते है कि सतारागढ़ साहू महाराज के राजकवि मनिराम राजा (उद्योतचंद) के पास अल्मोडा आए थे । उन्होने राजा की प्रशसा में यह कवित्त बनाकर राजा को सुनाया । राजा ने १०,०००) रु० तथा एक हाथी इनाम में दिया ।

पुराण पुरुष के परम दृग दोऊ कहत बेद बानी यूँ पढ गई ।
वे दिवसपति वे निशापति जोत कर काहूँ की बढाई ना बढ गई ।।
सूर्य के घर मे कर्ण महादानी भयो याहू सोच समझ चिता सो चढ गई ।
अब तोहू राज बैठत उद्योतचद चद के कर्ण की किरण करेजे सो कढ गई ।।"

इस पर दीक्षितजी ने विवेचन किया है—"इस छद में किसी कवि का नाम नही है । परन्तु प्रथम चरण मे तीन अक्षर कम है । भूषण नाम मे भी तीन ही अक्षर है अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इस रिक्त स्थान पर

---

†—'कवि-भूषण' उपाधि का अर्थ 'भूषण कवि' नही, 'कवियो का भूषण' है ।
‡—कुमाऊँ का इतिहास, पृ० ३०३ ।

से भ्रमवश भूषण नाम ही उड गया है। इसके अतिरिक्त सितारा-नरेश साहू महाराज के राजकवि भूषण ही थे और कोई दूसरा कवि उनके दरबार मे न था। प्राय सभी विद्वानो ने इस बात को स्वीकार किया है कि 'भूषण' तथा 'मतिराम' उद्योतचद के दरबार में गए थे।"†

परन्तु यह कवित्त वस्तुत भूषण का न होकर मतिराम का है। शिवसिंह सरोज में वह मतिराम के नाम से इस रूप में दिया गया है—

पूरन पुरुष के परम दृग दोऊ जानि
कहत पुरान वेद बानि जोरि रढि गई।
कवि मतिराम दिनपति जो निशापति जो
दुहुँन की कीरति दिसन माँझ मढि गई॥
रवि के करन भए एक महादानि यह
जानि जिय आनि चिता चित्त माँझ चढि गई।
तोहि राज बठत कुमाऊँ उदोतचद्र
चद्रमा की करक करेजे हू ते कढि गई॥

है दोनो एक ही, पर पांडेयजी को जो कवित्त मिला उसमें स्मृति या लेख-दोष से थोडा सा अन्तर पड गया है।

दीक्षितजी से उनका 'भूषण-विमर्श' पाते समय जैसा मैंने उनसे सदेह प्रकट किया था, जान यह पडता है कि कही किसी ने मतिराम नाम को भ्रम से मनिराम पढ लिया। 'त' का 'न' पढा जाना बहुत सभव है और उत्तराखड के पहाडो पर मनिराम नाम खूब चलता है, इसलिए इस भ्रम का हो जाना और भी स्वाभाविक है। अतएव यह निश्चय है कि मनिराम भूषण का असली नाम नही था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि पाडेयजी ने 'कहते है' से आरम्भ कर उपर्युक्त कथन की पूर्ण सत्यता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नही लिया है और उसे किवदती ही माना है।

---

†—भूषण विमर्श, पृ० ५।

ऊपर का कवित्त दीक्षितजी के ग्रन्थ मे कुछ सुधरकर आया है। प्रथम चरण मे तीन नहीं, पाँच अक्षर कम है। परतु इससे उनके तर्क के बल मे कोई कमी नही आती।

भूषण की शृंगारी कविता

भूषण को हम वीर रस के कवि के रूप में जानते हैं। (उस कवि-त्रयी (भूषण, सूदन और लाल) मे वे प्रधान हैं जिसका काव्य हमें मध्ययुग के शृंगारी माधुर्य की अधिकता-जनित उकताहट से बचाने का काम करता है। उनकी ओजस्विनी कविता में वीर, रौद्र और भयानक रस की बड़ी भव्य व्यजना हुई है। क्योकि उन्होने अपने काव्य के द्वारा एक ऐसे वीर के वीर-कर्मो का वर्णन किया है जिसके जीवन मे इन रसो के उद्भावन के लिए वस्तुतः उपयुक्त आधार था। शिवाजी के चरित्र को देखकर उन्हें अपने अधिकाश प्रकाशित काव्य को रचने की प्रेरणा हुई थी। इसी प्रकार बुंदेला वीर छत्रसाल ने भी उनके थोड़े से काव्य के लिये आधार प्रस्तुत किया था। उनके "ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै अरिमुख घाव दै दै कूदि परे कोट मैं", "क्त्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि", "भुज भुजगेस की वै सगिनी भुजगिनी सी खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के" इत्यादि उत्कट काव्य के नमूनो के रूप में लोगों की जिह्वा पर अधिकार किए रहते हैं। शृगार रस का सामान्यतया उनके साथ ध्यान भी नहीं आता।

परंतु एक पुराने हस्तलिखित कविता-सग्रह में, जिसके आदि अत के पृष्ठ नष्ट हो गए है और इस कारण जिसके नाम, सग्रहकार, निर्माण-काल तथा लिपि-काल का कुछ पता नही चलता, भूषण के नाम पर शृगार रस के २५ पद्य दिए गए है जो इस लेख के अत मे दिए जा रहे हैं। उनके शृगार-सबधी ११ पद्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि सपादक-पंचक की "भूषण-ग्रथावली" मे भी दिए गए हैं। तीन पद्य दोनो मे समान हैं। इस नवप्राप्त सग्रह में प्रायः सब रसो की कविता सगृहीत है किंतु अधिकता शृंगार रस की ही कविता की है। कविताएँ रसानुक्रम या विषयानुक्रम से नही, कवियो के अनुक्रम से दी गई हैं। भूषण की इन शृगारी कविताओ के साथ साथ, जिनमे से कई में उनके नाम की छाप भी विद्यमान है, भूषण के कुछ प्रसिद्ध कवित्त भी इस सग्रह मे दिए गए हैं जिनके प्रतीक ये हैं—(१) इंद्र जिमि जिमि (? जभ) पर,

(२) गरुड को दावा जैसे, (३) मालुवौ उजेनि, (४) बलक बुषारें (५) कत्ता की कराक दै, (६) भुज भुजगेस की। इससे पता चलता है कि 'भूषण' से सग्रह कार का अभिप्राय प्रसिद्ध भूषण से ही है। वह दो भूषण नही मानता। इन पद्यो को उसने भूषण का ही मानकर दिया है। इन शृगारी पद्यो को भूषण-कृत मानने में कोई विशेष आपत्ति भी नहीं उपस्थित होती।

यद्यपि भूषण का वीर काव्य, विरल होने के कारण, अपने समय के शृगारी काव्य से अलग और ऊपर उठा हुआ सा लगता है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे अपने समय की कवि-प्रथाओ से सर्वथा अपना सबध-विच्छेद करने मे समर्थ हुए थे। उस समय कवि-शिक्षा-साहित्य का निर्माण करना एक प्रथा सी हो गई थी। केशव, चितामणि और मतिराम का अनुसरण करते हुए कवि समुदाय अलकार, रस, रीति आदि साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अगो के लक्षण लिखने और उनके उदाहरण प्रस्तुत करने में ही अपने कवि-कर्म का साफल्य समझता था। भूषण भी इसी वर्ग के कवि थे। उन्होने तत्कालीन कवि परपरा की शिक्षा पाई थी और उसी मार्ग का अवलबन भी किया था। "शिवराज भूषण" की रचना उन्होने कवियो के पथ का अध्ययन करके की थी—"समुझि कविन को पथ"। शिवाजी के चरित्र से प्रभावित होकर भी उनके हृदय मे यह इच्छा नही हुई कि शिवाजी का चरित्र-ग्रथ प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखा जाय। यदि भूषण ने ऐसा चरित्र-प्रबंध लिखा होता तो आज हिंदी-साहित्य मे उनका स्थान कहीं ऊँचा होता। क्योकि शिवाजी के जीवनेतिहास से उनका पूरा परिचय था और कल्पना की उनमें कमी न थी जिससे उनके जीवन की ऐतिहासिक घटनाओ को वे जीती-जागती जीवनगाथा मे गुफित करने में समर्थ हो सकते। शिवाजी चरित्र-काव्य के लिए प्रकृत नायक है। वे स्वभावतया सार्वभौम आकर्षण के केन्द्र है, जो प्रबध-काव्य के नायक के लिए एक आवश्यक गुण है। उनके प्रति भूषण की भावना भी केवल हलकी चाटुकारिता अथवा स्वार्थमय कृतज्ञता की नही, किंतु उनके लोकानुरंजन-कारी गुणो से उद्भूत गभीर मनोनिवेश की थी। इसी कारण उस समय के सामान्य कवियो की की हुई राजाओ की चाटुकारी उन्हें वाणी का कलक प्रतीत हुई जिसे उन्होने शिवाजी की चरित्र-सबधी-घटनाओ पर काव्य रचकर धोने का प्रयास किया—

> भूषण यों कलि के कविराजन राजन के गुण गाय हिरानी।
> पुण्यचरित्र सिवा-सरजे-सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

उनके नीचे दिए हुए एकश्लोकी शिवराजचरित्र से यदि इस बात का कुछ अनुमान लगाना उचित है कि शिवाजी का जीवनचरित्र उनसे कैसा बन पडता तो कहना पडता है कि सम्भवतः उनकी यह सम्भावित कृति साहित्य को एक अमूल्य भेंट होती—

जा दिन जनम लीन्हो भू पर भुसिल भूप
ता ही दिन जीत्यो अरि उर के उछाह को ।
छठी छत्रपतिन को जीत्यो भाग अनायास
जीत्यो नामकरन मे करन प्रवाह को ।।
भूषन भनत बाललीला गढ कोट जीत्यो
साहि के सिवाजी करि चहूँ चक्क चाह को ।
बीजापुर गोलकुडा जीत्यो लरिकाई ही मै
ज्वानी आय जीत्यो दिल्लीपति पातसाह को ।

मेरा यह अभिप्राय नहीं कि कवित्त के पूर्वार्ध में जो कल्पना की गई है वह प्रबन्ध के लिए उपयुक्त है, पर वह ऐतिहासिक तथ्य के साथ ऐसे क्रम और युक्ति से मिली है कि इस बात की आशा दिलाती है कि कवि सुगठित प्रबन्ध-कल्पना में भी समर्थ हो सकता था ।

परन्तु तत्कालीन प्रवृत्ति के प्रभाव मे आकर उन्होने ऐसा किया नही, प्रत्युत, शिवा ऐसे नायक के चरित्र को देखकर भी उनकी इच्छा हुई कि नाना प्रकार के अलंकारो (भूषणो) से अपने कवित्तो को भूषित करूँ और परिणाम-स्वरूप अलकार-ग्रंथ "शिवराजभूषण" की रचना हुई:—

सिवचरित्र लखि यो भयो कवि भूषन के चित्त ।
भाँति-भाँति के भूषननि भूषित करौ कवित्त ।।
सुकविन हूँ की कछु कृपा समुझि कविन को पंथ ।
भूषन भूषनमय करत शिवभूषन शुभ ग्रथ ।।

शिवराजभूषण शिवाजी की प्रशंसा में लिखा गया है सही, किंतु है वह मूलतः अलकार-ग्रंथ । उसमें पहले अलंकारों के लक्षण लिखे गए है और फिर उनके उदाहरण-स्वरूप शिवाजी की प्रशसा के पद्य दिए गए है ।

(इस ग्रंथ के अध्ययन से पता चलता है कि भूषण उतने अच्छे लक्षणकार नहीं थे जितने अच्छे कवि । फिर भी उन्हें लक्षण-ग्रंथ बनाने का ही ध्यान आया । इससे यह स्पष्ट है कि सामयिक प्रवृत्ति का उनके ऊपर कितना अधिक प्रभाव था ।) अतएव यह भी असम्भव नही कि जैसे अलंकार-निरूपण के

लिये उन्होंने "शिवराजभूषण" की रचना की, वैसे ही रस-निरूपण के लिये भी कोई ग्रथ लिखा हो जिसमें प्रचलित प्रथा के अनुकूल शृगार-रसांतर्गत नायिका-भेद का विस्तार से वर्णन रहा हो। उपर्युक्त नवप्राप्त पद्य भी नायिका-भेद से सम्बन्ध रखते है। और 'मुदिता बधू कहावती'४, 'लघु मान कहावै'७, 'गुरु मान कह्यो है'८, 'लच्छिन हूँ मुगधा पहचानी'१३, 'उत्तिम कहावही'२१ के इन अशो से तो यह स्पष्ट है कि ये किसी ऐसे ग्रथ के अश है जिसमें नायिका-भेद का वर्णन रहा हो। भूषण के रचे हुए सब ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हुए है। शिवसिहसरोज‡ मे इनके भूषण-हजारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास नामक ग्रथों का उल्लेख है जिनका अब तक कोई पता नही चला है। हो सकता है कि भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास किसी बडे लक्षण ग्रथ अथवा लक्षण-सम्बन्धी योजना के अग थे। इन्होने बडी विस्तृत कविता की रचना की थी, इसका सकेत 'हजारा' नाम से मिलता है। सम्भवतः 'हजारा' मे इनकी सब प्रकार की सुन्दर कविताओ का सग्रह रहा होगा। जान पड़ता है कि इन्होने नवो रसो मे सुन्दर काव्य की रचना की थी जिसका कुछ मान भी हुआ था। शिवसिंह सेंगर के अनुसार कालिदास द्विवेदी ने अपने सग्रह-ग्रथ 'हजारा' के आदि में नवरस के सत्तर कवित्त इन्ही के बनाए हुए लिखे है। ये सभी बातें इन पद्यो को भूषण-कृत मानने मे सहायक होती है।

अनुमान होता है कि भूषण ने कवि-कर्म का आरम्भ शृगारी कविता से ही किया होगा, जो परंपरावश लिखी होने तथा आरभिक रचनाएँ होने के कारण उतनी अच्छी नहीं बनीं। शृगार की ही कविता से अपना अभ्यास आरम्भ कर वे सभवतः अच्छे कवि हुए। परन्तु आगे चलकर शिवाजी के वीर कर्मो से अत प्रेरणा पाकर उनकी वाग्धारा दूसरी ओर मुड गई। उनके नए काव्य में यद्यपि शैली आलकारिक ही रही किंतु विषय बदल गया। जहॉ अन्य लक्षणकार अलंकारो के उदाहरणो की रचना अधिकतर शृगार की ही रचनाओ के रूप मे किया करते थे वहॉ भूषण ने शिवाजी की उत्कट वीरता का आधार लेकर वीर, रौद्र और भयानक रस की ओजस्विनी कविता में उदाहरण प्रस्तुत किए। यही भूषण की विशेषता हुई, जिसके आगे उनका पुराना शृगारी काव्य भुला दिया गया। यह भी संभव है कि यौवन-काल में घोर शृगारी काव्य रचने का पीछे उनके हृदय में कुछ सकोच उत्पन्न हो गया हो और इसी कारण उन्होने स्वयं ही वह परिस्थिति ला उपस्थित की हो

‡—रूपनारायण पाण्डेय—शिवसिहसरोज, पृष्ठ ४६४।

जिससे पीछे उनके शृंगारी काव्य का पूरा प्रचार न होने पाया हो तथा केवल वे ही पद्य अन्य साधनो से सुरक्षित रह पाए हो जो पहले ही लोगों में प्रचार पा चुके होगे।

औरगजेब के दरबार में हाथ धुलाकर कविता सुनानेवाली किंवदंती में यदि कुछ सार है तो वह भी 'सकोच' वाले अनुमान को पुष्ट करती है। आजकल के कवियो को भी ऐसा सकोच हुआ करता है। अपने यौवन-काल की लिखी घोर शृगारी कविताओ को फाड डालने की बात आजकल के एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित कवि ने सतोष की साँस लेते हुए कही थी। परंतु साहित्य-प्रेमियो की आशा और अभिलाषा यही होनी चाहिए कि भूषण की सभी रचनाएँ प्राप्त हो जायँ।

भूषण के नवप्राप्त शृगारी पद्य यहाँ दिए जाते है—

धाय नही घर माहि सुनौ पुनि सासु रिसाई है कैसे बुलैबौ।
सग न नेक चलै ननदी रिपु जोवत साँझ समै को अन्हैबौ॥
यद्यप जानति हौ कवि भूषन क्यौ इनमै बसि कै जसु पैबौ।
तद्यप चंद के पूजन कौ जमुनातट मोहि जरूर है जैबौ॥ १॥

संगम कौ आगम भयौ है सुष रग गेहु,
घरी घरी दृगनि भरी सनेह काई है।
जैसे कहूँ मीन जल सूषत मलीन तपै,
प्रेम के वियोग गति बाल की जनाई है॥
जौ है नीकै सुषद सकेत मनभावते के,
भूषन सुकवि सो तौ ह्वाँ कबहूँ न पाई है।
आयौ है बसंत दल बिरल बिलोकि बन,
मदन की आगि उर मे उमगि आई है॥ २॥

दूरि चितै जहँ मित्र कौ आनन कानन पास धर्यौ बिबि पानी।
अभी (?) तबै भुजमूल भवै कवि भूषन आँगन मे अगरानी॥
अंग मरोरि निरग भरी त्रिबली उघरी न अली पहचानी।
नेह दिषाय बिचक्षण कौ गहि गाढे सषी निज अंक मै आनी॥ ३॥

मदिर न नाह औ न निकट ननद आजु,
औसर अनद नदनदन कौ ध्यावती।
ऐहै मनमोहन लगैहै उर आपने सौ,
ह्वैहै हित मैन चित्त चैन† यो बढावती॥

†—हस्तलेख मे 'चेन'

है समीप सासु पै न नैन बलबेरन को,
मुदित भई है मुदिता बधू कहावती ॥
लोचन बिलोल कवि भूषन हिये अलोल,
कामिनि कपोलन मे लोम उपजावती ॥ ४ ॥

पठई जितही तितही रजनी सजनी अपने हित ही तू भई।
अनतै रति कै रति आई इतै छतिया मे नषः छत छाप नई ॥
बिथुरी अलकें सुथरी पलकें कवि भूषन मे मन ताप तई।
धुतई बतियाँ पतिआ मन की गति जानि परी पति पै न गई ॥ ५ ॥

तेरौ सुहाग बडो कहियै अपने कर पी गहनौ पहरावै।
धन्य तू माई बडाई सही सब या विधि सांई सनेह जनावै ॥
मेरे ते वल्लभ दै कुच चदन वदन बिदु सोवै नव नावै।
अग प्रभा छिपि जैहै कहै कवि भूषन मोहि न भूषन भावै ॥ ६ ॥

मानिनि के मन में मनमोहन माहन के मन मानिन भावैं।
मान कियौ अनुमान विलोकनि आन तिया कौ जहाँ पिय ध्यावै ॥
कत सुजान तहाँ कवि भूषन चूमन दै उह कोप छिमावै ॥
केलि-कला हुलसी ततकाल मिली हँसि सो लघु मान कहावै ॥ ७ ॥

लाल चहै चित चैन बिनै करि भाल मे चंदन चिन्ह लह्यौ है।
चदन रेष लषी उर माँह लषै पिय को तिय कोपु गह्यौ है ॥
सौति की साल विसाल महा तहाँ देह दवानल दाह दह्यौ है।
मौन किये अभिमान हिये कवि भूषन सो गरु मान कह्यौ है ॥ ८ ॥

बैठी गृहद्वार बार बाग न बिसारति है,
बरस अनेक एक बासर गिनावती।
आसन सुहात है न बासन तमोल चोवा,
बोलति न बैन नही भूषन बनावती ॥
प्रेम के जनाये बहुरचौ विसेष पैयै बलि,
बस कर बालम बिरचि कौ मनावती।
कहै कवि भूषन बिहाल तन कीन्हे बहु,
बाला बिरहानल की ज्वाला सी जनावती ॥ ६ ॥

जान कह्यौ पिय आन पुरी कौ डरी तिय प्रान अचानक सोका।
बान घटा (?) कवि भूषन यौ जिमि भान लषि (?) लछि न कोक

नैनन नेह सलज्ज चितौनि सरोजमुखी तब भूमि बिलोका।
पूछे कछू न कहे बतिया गति ता छिन स्याम पयानहि रोका।। १० ।।

लालन कै आगै रस पागै ललना अचेत,
लोचन चुवन लागे कैस कै सचाइहै।
प्राननाथ रावरे हौ निस्चय पिया न कियौ
ह्वैहै जलपान और अन्न पै न पाइहै ।।
कहै कवि भूषन सँदेसौ देह राषिवे कौ,
एक है उपाय नेह आपनौ जनाइहै।
दीजै कठमाल सो बिलोकि रावरे की ठौर,
राज उठि भोर पूजि उर लपटाइहै ।। ११ ।।

और के धाम मे स्याम बसे सिगरी रतिया तिय जागि बिताई।
आजु सषी लषि लालन सौ हठ सी बतियाँ करि हौ कठिनाई ।।
आयौ हरी कबि भूषन भोर तौ दूषन देन कौ है ढिग ठाई।
राषि उसासि कही न कछू असुवा जल सौ अँखियाँ भरि आई ।। १२ ।।
बैठी सकेत किसोरी सषी बन सूनौ बिलोकत ही बिलषानी।
पी बिनती मृग-सावक नैनि न बोली कछू न न बोली थिरानी ।।
गुंजि उठे अलिपुंज तहा कवि भूषन श्रौण परी यह बानी।
सोच भिद्यौ मन मोद ततच्छन लच्छिन हूँ मुगधा पहचानी ।। १३ ।।
कै धौ अली न सँदेम कह्यौ कै उनै सो सकेत समै बिसरायौ।
मो पति यौ तजियै अनुराग न नागर काहू निसा विरमायौ ।।
कारन कौन निवारन कौ कबि भूषन बेगि न बालम आयौ।
नीरज नैनि के नीरज नैननि नीर सुनीर बुनी कौ सौ धायौ ।। १४ ।।
जानौ नही अबही चतुरापन हाव न भाव भयौ जुवती कौ।
नीबी गही रति मानौ नही कर सो गहि टारत्ति हौ पर पी कौ* ।।
यद्यप मो गुण एक विभूषन तद्यप मो पर यो नित नीकौ।
नाह को नेह सषी सुनिरी इमि संग सु मेरो तजै न घरी कौ ।। १५ ।।
द्यौस निसाँ सषी मो मुष चाहै सराहै सदा सुषमा अँषिया की।
जोबन-जोति तिहारी पियारि हरै दुष ज्यौ तम जोति दिया की ।।
जो उनि कौ कहिबौ कबि भूषन बातौ न चाहै बिरानी तिया की।
रीझ कहौ अपने पिय की सपने हूँ न सूझ जौ और हिया की ।।१६।।

---

*—संभवत शुद्ध पाठ 'कर पी कौ' होना चाहिये।

अकुर भोग सजोग भयौ कबहूँ न वियोग दवानल ज्वाला ।
तापर फैलि रहे सर पल्लव फूलि रही उर फूल की माला ॥
सीचत नाह सदा कवि भूषन नीरस नेह स्वभाव कौ प्याला ।
श्रीफल ऑब सुहाग के बाग मै मानौ महा सुष बेलि है लाला ॥१७॥
बोलन* व्यगि न जानति हौ न बिलोल विलोकनि मे चतुराई ।
हास विलास प्रकास कि केलि मे षेलि बिसेप न आहि ढिठाई ॥
भूषन की रचना कबि भूषन जद्यप हौ सिषऊँ चतुराई ।
तद्यप नाह कौ नेहु सषी तजि मोहि न और तिया मन भाई ॥१८॥

पायन परत हरि पाए न मन तिहारे
काहे दृग तारेहू ललाई दीजियतु है ।
कारन बिनाहूँ तू करेरी अकरन लागी
मन मूढता कहू बढाय लीजियतु है ॥
बातै सरकसी रसहू मे कवि भूपन तौ
बालम सौ बौरी बरकसी कीजियतु है ।
कैसे हू न बोध तेरै सील को न सोध है री
ऐसे प्यारे प्रीतम सौ क्रोध कीजियतु है ॥ १९ ॥

कत जागि जामिनि सकाम ठौर ठौर बसि
आए भोर और कामिनि सौ रति मानि कै ।
तहॉ कोप कामिनी जनायौ हैं चलायौ बान
नैन छोर द्वार तिरछौहै ठानि ठानि कै ॥
एते बीच स्याम लै मनैबे के किए लै बैन
तिहि सुढरयौ है बैन प्रीति पहिचानि कै ।
कहै कबि भूषन ततछन लगाय अंक
मानद सौ आनद बढायौ सुष सानि कै ॥ २० ॥

जद्यपि बिहारी और मंदिर तै आए भोर
उरज की छाप उर और छबि पावही ।
तद्यप सुचैन वाहि प्रीतम को बैन चाहि
सुधा सौ लपेटे बैन आवत सुभावही ॥
लोचन विलोल ज्यौ विरोचन उए हैं कौल
उठी लात बोल अंकमालिका लगावही ।

---

*—हस्तलेख मे पाठ—बोलि न ।

कहै कवि भूषन भई है कुलभूषन ए
भलगुण भामिनि ते उत्तिम कहावही ॥ २१ ॥

जाति उहै व्रजचंद समीप जहाँ घन कुज की कुज गली है ।
चदमुषी पहरै सित चोल हँसै हिय हू मुकता अवली है ॥
चदकला सि पुरी कवि भूषन वाहि चहू रुप चून कली है ।
चद उदै तकि चदन देति न चंद्रप्रभा सिवराज चली है ॥२२॥

इस सग्रह में शृगार रस के ये तीन पद्य और हैं जो प० विश्वनाथ मिश्र आदि की ग्रथावली मे पहले ही प्रकाशित हो चुके है—

मेरु का सोनौ कुबेर की सपति ज्यौ न घटे बिधि रात अमा की ।
नीरधि नोर कह कवि भूषन छीरध छीर छमाहै छमा की ॥
प्रीति महेस उमा को महारस रीति निरतर राम रमा की ।
एन चलाए चले भ्रम छाडि कठोर क्रिया जो तिया अधमा की* ॥१॥

मेचक कवच साजि बाहन बयारि बाजि,
गाढे दल गाजि रहे दीरघ बदन के ।
भूपन भनत समसेर सोई दामिन है,
हेतु नर कामिनी के मान के कदन के ॥
पैदरि बलाका धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर सूने ही सदन के ।
ना करु निरादर पिया सो मिलु सादर,
ये आए बीर बादर बहादर मदन के† ॥ २ ॥

भेटि सुरजन तोहि मेटि गुरजन लाज,
पंथ परिजन को न त्रास जिय जानी है ।
नेह ही को तात गुन जीवन सकल गात,
भादौ तमपुजन निकुजन सकानी है ॥
सावन की रैनि कवि भूषन भयावनी मै,
भावत सुरति तेरी मकहू न मानी है ।
आज रावरे की यहाँ बातें चलिबे की मीत,
मेरे जान कुलिस घटा घहरानी है‡ ॥

*—विश्वनाथप्रसाद मिश्र—भूषणग्रन्थावली, पृ० ३०६।

†—वही, पृ० १२५-२६। अन्य प्रकाशित शृङ्गारी कविताओ के लिए देखिए वही, पृ० १२४-१२७।

‡—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३०६।

शृंगार रस की कविता के अतिरिक्त एक शांत रस, एक बीभत्स रस और एक शिवा-प्रताप-वर्णन का, इस प्रकार भूषण के तीन कवित्त इस संग्रह में और दिए गए हैं जो नीचे दिए जाते हैं—

जिते मनि* मानिक है जोरे जनि जानि कहै,
धरा कै धराय फेरि धराई धराइबी ।
देह देह देह फरि पाइहै न ऐसी देह,
जानिए न कौन भाँति कौन जोनि जाइबी ।।
एक भूष राषि भूष राषै मति भूषन की,
सोई भूषि राषि जानि भूषन बनाइबी ।
गगन के गन नग गनन न देहै नग,
नगन चलेगे साथ नगन चलाइबी ।। १ ।।

नगर नगर पर तषत प्रताप धुनि,
गाढेन गढन पर सुनि अवाज की ।
षड नौउ षड पर डंड सातौ दीप पर,
उदित उदित पर छामनी जिहाज की ।।
नृपति नृपति पर धामिनी षुमानी जू की,
थल थल ऊपर बनि है कविराज की ।
नग नग ऊपर निसान सोहै जगमग,
पग पग ऊपर दुहाई सेवराज की ।। २ ।।

सभाजी कौ जीत्यौ साल भैर कौ सबद सुनि,
नर कहा सूरन के हिये धरकत है ।
देवलोक हूँ मै अजौं मुगलन दिल अजौ,
सरिजा के सूरन के षग षरकत है ।।
भूषन भनत देषौ भूतन के भौनन मे,
ताके चद्रावतन के लोथि लरकति है ।
कोहन लपेटे अधकारे परनेटे एजु,
रुधिर लपेटे पटनेटे फरकत है† ।। ३ ।।

---

*—हस्तलेख मे 'मन' ।

†—यह शिवाबावनी के २४वे और २५वे कवित्तो से कुछ कुछ मिलता है ।

मूल गोसाईं-चरित और पं० रामनरेश त्रिपाठी

कुछ समय से पडित रामनरेशजी त्रिपाठी गोस्वामी तुलसीदास पर एक ग्रंथ प्रस्तुत कर रहे है, जिसका नाम है 'तुलसीदास और उनकी कविता'। इस ग्रथ के दो भाग प्रकाशित हो चुके है, तीसरे के शीघ्र प्रकाशित होने की आशा दिलाई गई है।* इसके पहले भाग में बेणीमाधव के 'मूल गोसाई-चरित' की खूब आडे हाथो खबर ली गई है, और इसी प्रसंग में बाबू श्यामसुदरदास के और मेरे ग्रथ 'गोस्वामी तुलसीदास' पर भी तीव्र आक्षेप किए गए है। पहले पहल ये आक्षेप त्रिपाठीजी ने रामचरित-मानम की अपनी टीका की भूमिका मे किए। उसी समय के आस-पास उन्होने 'वीणा' मे भी उस अश को छपवाया, जिसमें ये आक्षेप है, और फिर १९३७ में इस बृहद् ग्रथ मे, जिसमें उन्ही के कथनानुसार उनकी टीका की भूमिका सशोधित और परिवर्धित होकर आई है, उन आक्षेपो को दुहराया।

त्रिपाठीजी के आक्षेप इतने निस्सार है कि उस समय उनका उत्तर देना हमने समय का अपव्यय समझा। परंतु अभी 'सनाढ्य-जीवन' में श्रीयुत दीनदयालजी गुप्त का एक लेख छपा है, जिसमें उन्होने त्रिपाठीजी के कुछ आक्षेपो को प्रमाण मानकर दुहराया है। जब एक युनिवर्सिटी-अध्यापक भी त्रिपाठीजी के इन कथनों को प्रमाण मानकर चल रहे है, तब यह स्पष्ट जान पड़ता है कि त्रिपाठीजी के कथनो की असत्यता प्रदर्शित करना आवश्यक है।

हमारा सबसे पहला दोष त्रिपाठीजी यह मानते है कि हमने 'मूल-गोसाई-चरित' को अपने ग्रथ के लिये आधार बनाया है। इसमें सदेह नही कि उस ग्रथ के निर्माण के लिये जो सामग्री आधार मानी गई है, उसमें 'मूल गोसाई-चरित' भी है। यही नही, 'मूल गोसाईं-चरित' जीवनी-निर्माण के क्षेत्र में पाँव रखने के लिये और सामग्री की अपेक्षा दृढ आधार माना गया है, क्योकि गोस्वामीजी के जीवन की घटनाओ के यथाक्रम वर्णन की ओर

*—इस ग्रथ के तीनो ही भाग प्रकाशित हो चुके है। —सपादक।

'मूल गोसाईं-चरित' और सब सामग्री से अधिक अग्रसर है, तथा गोसाईंजी के लगभग समकालीन होने का उसका दावा है, जो सर्वथा बनावटी भी नही लगता। इसीलिये हिंदी के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर-हीराचंद ओझा ने भी कहा था—"बाबा वेणीमाधवदास के लिखे हुए जीवन-चरित के आधार पर गोस्वामीजी का जीवन-चरित लिखने की बडी आवश्यकता है।"*

परंतु त्रिपाठीजी का अभिप्राय इतना ही नही है। "उन्होने (बाबू श्याम-सुंदरदासजी और मैने) 'मूल गोसाईं-चरित' के आधार पर एक भारी पुस्तक ही रच डाली है।" कहकर वे ध्वनित यह करना चाहते है कि केवल इसी के आधार पर हमारा ग्रंथ रचा गया है, और इसमें दी हुई बाते हमारे ग्रंथ में ज्यो-की-त्यो मान ली गई है। संभवतः यही कारण है कि उन्होने अपने इस ग्रंथ में हम लोगो को लेखक नहीं माना है, और जहाँ-जहाँ हमारा उल्लेख किया है, "संपादक-द्वय" कहकर हमें याद किया है। लेख के कच्चे रूप में शायद उन्होने "संपादक-द्वय ने लिखा है" के स्थान पर "संपादक-द्वय ने संपादित किया है," लिखकर आजमा देखा हो कि कैसा लगता है। पर किसी तरह हिंदी-जगत् इस अजमत से वंचित रह गया। उनका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि जिस जीवनी को वेणीमाधवदास ने पद्य मे लिखा है, गद्य मे हमने उसका केवल संपादन कर दिया है। परंतु त्रिपाठीजी यदि जीवन-सामग्रीवाला अध्याय अच्छी तरह पढ़ते, तो उन्हे पता चलता कि न तो हमने अपना ग्रंथ केवल 'मूल गोसाईं-चरित' ही पर अवलंबित किया है, और न उसकी सब बाते प्रामाणिक ही मानी है। यह बात उस अध्याय में पूर्णतया स्पष्ट कर दी गई है। उसके अंत में हमने स्पष्ट लिखा है—"तुलसीदास के जीवन की जो कुछ सामग्री आज तक उपलब्ध है, उसका उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। इसी के आधार पर उनके जीवन का पुनर्निर्माण करना होगा, जिसका प्रयत्न आगे के पृष्ठो मे किया जाता है।"† इस सामग्री मे 'मूल गोसाईं-चरित' के अतिरिक्त गोसाईंजी की आत्मचरितमय कविता, नाभादासजी का छप्पय, प्रियादासजी की टीका आदि भी सम्मिलित है। यह सामग्री ज्यो-की-त्यो नहीं ग्रहण कर ली गई। उसके आधार पर गोसाईंजी के जीवन का पुनर्निर्माण किया गया है। 'मूल गोसाईं-चरित' मे तो अपने ढंग से पूरी जीवनी विद्यमान है, यदि हमें उसे ही पूरा ग्रहण करना होता, तो पुनर्निर्माण की

---

*—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृष्ठ ५१।

†—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २३।

आवश्यकता ही क्या रहती । और, ग्रथ को आगे पढकर कोई भी यह देख सकता है कि वेणीमाधवदास की कही हुई प्रत्येक बात स्वीकार नही की गई है । जो बात जाँच मे ठीक नही उतरी, वह सच्ची नही मानी गई । इस सबध में और विद्वानो की सम्मति से भी लाभ उठाया गया है । और, असल बात तो यह है कि मूल-चरित की जिन बातो का खडन करते हुए त्रिपाठीजी ने उसे अप्रामाणिक माना है, एकाध को छोड़कर, उन सबका खडन हमारे ग्रथ में विद्यमान है ।

आगे चलकर त्रिपाठीजी ने हमारे ग्रथ से यह उद्धरण दिया है—

"पडित रामकिशोर शुक्ल को वेणीमाधवदास की प्रति कनक-भवन (अयोध्या) के महात्मा बालकराम विनायकजी से प्राप्त हुई थी । महात्मा जी की कृपा से उनकी प्रति देखने का हमें भी सौभाग्य मिला है । जिस प्रति से यह प्रति लिखी गई थी, वह मौजा मरूव, पोस्ट ओवरा, जिला गया के प० रामाधारी पाडेय के पास है । पाडेयजी ने लिखा है कि यह प्रति उनके पिता को गोरखपुर में किसी से प्राप्त हुई थी । तब से वह उनके यहाँ है, और नित्यप्रति उसका पाठ होता है । पाँडेयजी इस प्रति को पूजा में रखते है । इससे वह बाहर तो नही जा सकती, परतु यदि कोई उसे वहाँ जाकर देखना और जाँचना चाहे, तो ऐसा कर सकता है । जाँच कराने से ज्ञात हुआ है कि यह प्रति पुराने देशी कागज पर देवनागरी अक्षरो में लिखी है । इसमे "९।। ×५।।" के आकार के ५४ पृष्ठ है । प्रत्येक पृष्ठ मे १२ पक्तिया है ।"

और इस पर यह टिप्पणी जडी है—

"इतना विवरण मिलने पर भी यह जानना अभी शेष ही है कि उक्त महात्माजी को वह प्रति कैसे प्राप्त हुई ? क्या वह गया गए थे, और स्वय उन्होंने उसकी नकल की थी ? वह पुस्तक तो पूजा में रहती है, कही बाहर जा नही सकती, फिर वह कनक-भवन (अयोध्या) तक कैसे पहुँची ? असली प्रति भी तो अभी किसी ने नही देखी है । केवल पत्र-द्वारा उसके पत्रो की लबाई-चौडाई मंगा ली गई है ।"

क्या विनायकजी गया गए थे ?—यह त्रिपाठीजी ने खूब कहा ! उस समय भी लोग गया जाना नही छोडते थे, जब समझा जाता था कि जो गया गया, सो गया, और अब तो रेल, मोटर इत्यादि एक स्थान से दूसरे स्थान को आने-जाने के कई साधन सुलभ हो गए है । सोरों तक तो त्रिपाठीजी आदि भी हो आए है, तब विनायकजी के गया हो आने में क्या अड़चन है ? उक्त पुस्तक की नकल अयोध्या मे कैसे विद्यमान है ?—इस प्रश्न का

कोई स्वीकार-योग्य हल त्रिपाठीजी को नहीं सूझता। वह उस विस्मृतनामा, किंतु प्रख्यात महापुरुष की भाँति हैरत में है, जिसने छत पर उपले पथे देख-कर आश्चर्य के साथ पूछा था—"यह देखो, छत पर गाय गोबर कैसे कर आई ?" और देखिए, "जाँच कराने से ज्ञात हुआ है" के माने "पत्र द्वारा पत्रों की लबाई-चौडाई मँगा ली गई है" त्रिपाठीजी ने कैसे लगा लिए, यह त्रिपाठीजी ही हमें बताने की कृपा करें। "असली प्रति भी तो अभी किसी ने नही देखी है" कहने की गलती भी त्रिपाठीजी से न हुई होती, यदि हमारे ग्रथ के जीवन-सामग्रीवाले अध्याय को उन्होने भली-भाँति पढा होता। उसमें हमने स्पष्ट लिखा है—"इस मूल-चरित की पूरी प्रतिलिपि, जो प० रामाधारी पाडेय की (प्रति की) ठीक नकल है, इस पुस्तक के दूसरे परिशिष्ट में दी जाती है।" क्या यह केवल पत्र-द्वारा लबाई-चौडाई मँगा लेना है ? क्या बिना मूललिपि के देखे उसकी ठीक नकल होना सभव है ? क्या 'जाँच कराने से यह स्पष्ट नही है कि प० रामाधारी पाडेय की ही बात का विश्वास नही कर लिया गया है ? किंतु आजकल के खोजियो को सोचने-समझने की फुर्सत कहाँ, उन्हें तो बस लिखना है।

एक बात और यहाँ लिख दें। प० रामकिशोर शुक्ल के द्वारा नवल-किशोर-प्रेस की रामायण के साथ 'मूल गोसाई-चरित' के प्रकाशित होने पर बाबू श्यामसुदरदास ने उसके विषय में बडी छान-बीन की, और बहुत-से हिंदी-साहित्यिको की सम्मतियाँ माँगी। उसका परिणाम उन्होने नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सातवें और आठवें भाग में प्रकाशित किया था। जैसा उन्होने आठवें भागवाले लेख में लिखा है, उन्होने एक विश्वस्त व्यक्ति को उस पुस्तक की जाँच करने और उससे छपी प्रति का मिलान करने के लिये प० रामाधारी पाडेय के यहाँ भेजा था। प० रामनरेश त्रिपाठी तो इस बात को मानेंगे नही, क्योकि हमारे ग्रथ को वे भारीभरकम ग्रथ मान चुके है, पर जैसा बाबू श्यामसुदरदास ने पुस्तक की भूमिका मे लिखा है, हिंदुस्तानी एकेडेमी तुलसीदास पर एक छोटा ग्रथ चाहती थी, और उसकी इच्छा के अनुसार बने हुए ४० पृष्ठो के दो परिशिष्टो-सहित २५० पृष्ठो के स ोटे ग्रथ मे आवश्यकता-वश सब बातें सक्षेप मे कहने का प्रयत्न किया गया है। पर त्रिपाठीजी का तो कर्तव्य था कि तीन भागो मे विभक्त, १२०० से अधिक पृष्ठोवाला, अपना बृहत्काय ग्रंथ लिखने के पहले 'मूल गोसाई-चरित'-सबधी सारी सामग्री पढ लेते। ऐसा करना तो रहा दूर, उन्होने उस ग्रथ का एक अध्याय भी अच्छी तरह नही पढ़ा, जिसकी उन्होंने इतनी तीव्र आलोचना की है।

आगे चलकर त्रिपाठीजी पृष्ठ ७६ पर लिखते हैं—"उक्त विद्वान् संपादक-द्वय ने पृष्ठ २१ पर यह भी लिखा है ('लिखा है' से उनका अभिप्राय है-'संपादित किया है') कि 'मूल गोसाईं-चरित' से इस बात का संकेत मिलता है कि गोसाईंजी से वेणीमाधवदास की पहली भेंट संवत् १६०९ और १६१६ के बीच में हुई थी। संभवतः इसी समय वे उनके शिष्य भी हुए हों।" इत्यादि।

इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए त्रिपाठीजी ने टिप्पणी की है कि "मैंने मूल-चरित को कई बार पढा है, मुझे तो कहीं यह आभास नहीं मिला कि तुलसीदास से वेणीमाधवदास की भेंट संवत् १६०९ और १६१६ के बीच (मे ?) हुई थी।"

यदि यह कथन किसी सामान्य व्यक्ति का होता, तो इसके लिये स्थान था, क्योंकि हमारे ग्रंथ मे उस स्थल का निर्देश करने से रह गया है, जिससे यह आभास मिलता है। परंतु त्रिपाठीजी-सरीखे सज्जन, जिनका दावा है कि "मैंने उसे ('मूल-गोसाईं-चरित' को) ध्यान से पढ़ा है, उसके एक एक शब्द और महावरो (?) पर विचार किया है" (पृष्ठ ७५), ऐसा कहें तो, आश्चर्य की बात है। इससे उनके दावे की असलियत खुल जाती है। यदि उन्होने मूल-चरित के एक एक शब्द पर विचार किया होता, तो उन्हें यह पता लगाने में कठिनाई न होती कि १६०९ और १६१६ की घटनाओ के बीच के इस स्थल से हमने यह संकेत पाया है—

इमि जादव माधव बेनि उभय
. .. .

सब रंग - रँगे सत्संग - पगे,
अहमादि कुनीद-सुषप्ति जगे* ।

वे चाहे हमारे अर्थ से सहमत न होते, किंतु यदि सचमुच उन्होने मूल-चरित के एक-एक शब्द पर विचार किया होता, तो इतना तो उन्हे स्पष्ट हो ही जाता कि 'माधव बेनि' से वेणीमाधव अर्थ निकल सकता है।

इस पर एक और प्रश्न त्रिपाठीजी ने पूछा है—'यह कैसे विदित हुआ कि वह शिष्य भी हुए, और शिष्य होने के बाद लगातार ६४ या ७० वर्षो तक भी रहे (पृष्ठ ७६)।" आक्षेप-कामी त्रिपाठीजी ने "संभवतः इसी समय वे उनके शिष्य भी हुए है।" मे "संभवतः" शब्द की ओर ध्यान नहीं

*—मू० गो० च०, दोहा २६ से पहले।

दिया। यदि दिया होता, तो पता चलता कि यह हमारा अनुमान है, और जितना तर्क उस पर अवलंबित है, सब उसी की कोटि का है। परतु यह अनुमान सर्वथा निराधार नही। इसके आधार हैं शिवसिंह-सरोज के ये कथन— "यह महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजी के शिष्य उन्हीं के साथ रहते रहे हैं।" इनके जीवन-चरित्र की पुस्तक वेणीमाधवदास पसका ग्रामवासी ने, जो इनके साथ-साथ रहे, बहुत विस्तार-पूर्वक लिखी है। उसके देखने से इन महाराज के सब चरित्र प्रगट होते हैं।" 'सरोज'-कार का अभिप्राय यह जान पडता है कि वेणीमाधवदास को गोसाईंजी के सब चरित्र लिखने के लिये उनका आवश्यक ससर्ग प्राप्त था, अर्थात् उनके साथ वेणीमाधवदास का साहचर्य थोडे काल का नही, दीर्घकालीन था। शिवसिंह ने उन्हे गोसाईंजी का शिष्य बनलाया है, और उनके साथ दीर्घकालीन सपर्क की व्यजना की है। स० १६०९ और १६१६ के बीच उनका गोसाईंजी की शिष्यता स्वीकार करना इन बातो के साथ ठीक बैठ जाता है।

अब जरा उन तर्को की बानगी देखिए, जिनके द्वारा त्रिपाठीजी ने 'मूल गोसाईं-चरित' को सर्वथा अप्रामाणिक सिद्ध किया है। हमारा यह आग्रह नही कि 'मूल गोसाईं-चरित' सर्वथासिद्ध प्रामाणिक ग्रथ है। हाँ, यह आग्रह अवश्य है कि सार-हीन तर्को के कारण वह अप्रामाणिक नही माना जाना चाहिए। उसकी प्रामाणिकता में सबसे पहली आपत्ति त्रिपाठीजी को यह है कि वेणीमाधवदास केवल भद्दा 'तुकरक' है, "जिसे न छद का ज्ञान था, न व्याकरण का, और न वह तुक ही मिला सकता था।" जो व्यक्ति इतने दीर्घकाल तक तुलसीदास के साथ रहकर भी कवि नही बन सका, "उसके कथन का क्या प्रमाण होगा ?"

किसी के कथनो की प्रामाणिकता की कवि त्रिपाठीजी ने यह नई कसौटी चलाई है। इतिहासकारो की जान अब साँसत मे है, बेचारे कहाँ जायँगे। और, त्रिपाठीजी की बात को तो कोई अब अप्रामाणिक बता ही नही सकता, क्योकि वे अच्छे कवि हैं। चलो, अच्छा हुआ। झझट हटा, त्रिपाठीजी जो कुछ लिखेगे, सब इतिहास हो जायगा।

हाँ, त्रिपाठी जी इतना अवश्य भूल जाते है कि साधु-संत कविता करना सिखाने के लिये नही, उनकी आध्यात्मिक उन्नति कराने के लिए चेले मूड़ते हैं। इसलिए यदि वेणीमाधवदास अच्छे कवि नही हो सके, तो न गोस्वामी जी की गुरुता मे उससे कोई कमी आती है, और न वेणीमाधवदास की शिष्यता में। मध्ययुग मे ऐसे साधु-सतों की कमी नही, जिन्होने पद्य-रचना तो की है,

पर उसमें न काव्य-सौंदर्य है और न भाषा की स्वच्छता। और, बेढगे तथा बेतुके छदो मे होने के कारण कोई भी बात या जीवनी झूठी नही हो जाती।

त्रिपाठी जी ने आगे लिखा है कि तुलसीदास के ससर्ग से प्राप्य कविजनोचित गुणों को न ग्रहण कर वेणीमाधवदास "तुलसीदास की डायरी लिखा करता था, यह कहाँ तक विश्वासनीय माना जायगा ? हिन्दू-साधुओ मे कभी डायरी लिखने लिखवाने की चाल सुनी नही गई। फिर बाबा वेणीमाधवदास को यह प्रवृत्ति कैसे हुई ? तुलसीदास तो हमेशा निस्संग जीवन पसद करनेवाले व्यक्ति थे; स्तुति-प्रार्थनाओ से प्रसन्न होनेवाले देवता ही उनके पहरेदार थे, उनको बाबा वेणीमाधवदास-जैसे तुकरक प्राइवेट सेक्रेटरी की क्या आवश्यकता थी ?"

यह ठीक है कि हिन्दू-साधु अपनी डायरी लिखते-लिखवाते न थ, परतु यह कदापि यथार्थ नही कि श्रद्धालु भक्त या शिष्य अपने गुरु या श्रद्धा-भाजन की जीवनी लिखा ही नही करते थे। सवत् १६६४ मे जैन गुरु हीरविजय सूरि की जीवनी उन्ही के समय मे जगद्गुरु काव्य के नाम से पद्मसागर गणि ने सस्कृत में लिखी। सवत् १६४५ मे अनतदास ने कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, रैदास, पीपा आदि संतो की परिचयियाँ हिंदी में लिखी। सवत् १८३२ मे रूपदास ने अपने गुरु सेवादास की परिचयी लिखी जिसमे उनके विहार (पर्यटन) का पूरा-पूरा वर्णन है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि ऐसे लोग तथ्यो से दूर भी हट जाते है। वे गुरु-महिमा का गान ही विशेषकर अपना कर्तव्य समझते है। महात्माओ के विषय में कई अलौकिक और चमत्कारी बाते सहज ही फैल जाया करती है, और शिष्य-समुदाय उन पर शीघ्र विश्वास कर बैठता है। सत्रहवी शताब्दी के परम श्रद्धाशील, गुरु-भक्त शिष्य वेणीमाधवदास मे इस बात का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नही। त्रिपाठी जी ने ठीक लिखा है कि सम्राट जॉर्ज पचम से गाधी जी की भेंट के सम्बन्ध में विचित्र गपाष्टक तैयार की जा सकती है। पर वह गपाष्टक जिसने लिखी है, उसकी मानी जायगी या नही ? और, कई सौ वर्षों बाद वह इस बात का प्रमाण मानी जायगी या नहीं कि सम्राट् जॉर्ज पचम की गाधी जी से भेंट हुई थी। वेणीमाधवदास सरीखे श्रद्धालु शिष्य से वैज्ञानिक अर्थ में इतिहास की आशा करना व्यर्थ है। वह इतिहास नही पुराण लिख सकते थे जिससे यदि कोई प्रयत्न-पूर्वक ढूंढे तो इतिहास निकाला जा सकता है। जिसके दिव्य पहरेदार हों उसे अदिव्य सेक्रेटरी

रखने की जरूरत हो सकती है या नहीं, यह त्रिपाठी जी ही जाने। पर प्रस्तुत समस्या के हल के लिये इसका उत्तर आवश्यक नही।

त्रिपाठी जी कहते है, 'मूल गोसाई-चरित' इसलिये भी अप्रामाणिक है कि उसमें 'बुलाहट' शब्द का प्रयोग हुआ है। वह लिखते हैं—हमें इस 'बुलाहट' के 'हट' को देखकर सदेह हुआ था। क्योंकि हट-प्रत्यय-युक्त शब्द, जैसे घबराहट, मुसकाहट, चिल्लाहट आदि, बहुत प्राचीन नहीं है। कम से कम मुझे किसी प्राचीन कवि की कविता मे अभी तक नहीं मिले। हिंदू-विश्व-विद्यालय के हिंदी अध्यापक आचार्य रामचद्र शुक्ल को मैने पत्र लिखकर और फिर मिल कर भी पूछा। वह भी 'हट' को प्राचीन नही मानते।"

आचार्य शुक्लजी को त्रिपाठी जी व्यर्थ ही सान रहे है, और अपनी प्रमाण-हीन, व्यक्तिगत राय का उत्तरदायित्व उनके सिर थोप रहे है। शुक्लजी ने जिस अर्थ मे 'आहट' (त्रिपाठी जी के 'हट') प्रत्यय को नवीन बताया होगा वह त्रिपाठी जी की समझ मे आया ही नही। सभी लोग इस प्रत्यय को इस अर्थ में आधुनिक समझते है कि यह प्रत्यय अधिकतर खड़ी बोली मे प्रयुक्त होता है। खडी बोली आजकल की विशेषता है। जिस अधिकता के साथ वह आजकल साहित्य में व्यवहृत होती है, उतनी प्राचीन काल मे नहीं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि यह प्रत्यय पुराना नहीं। खड़ी बोली ही मे नही, गढवाली बोली में भी, जिस पर मुसलमानी प्रभाव बहुत कम पड़ा है यह प्रत्यय 'आट' के रूप में विद्यमान है जैसे घबराट (घबराहट) गगड़ाट (गड़गड़ाहट) फफडाट या फड़फडाट (फड़फड़ाहट) इत्यादि। कभी-कभी व्रजभाषा मे भी इसका प्रयोग हो जाया करता था। कम से कम इसका तो स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि गोस्वामी जी के शिष्य वेणीमाधवदास के समय में इस प्रत्यय का प्रयोग होता था। वेणीमाधवदास (स० १६५५-१६८६ के लगभग—'सरोज') के समकालीन व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि बिहारी (स० १६६६-१७२०—शुक्लजी) ने इस प्रत्यय का प्रयोग किया है। विश्वास न हो तो ये प्रमाण प्रस्तुत है—

कुंज भवन तजि भवन कौ
चलियै नंद किशोर,
फूलति कली गुलाब की,
चटकाहट चहुँ ओर ॥ ८४ ॥

खरे अदब इठलाहटी
उर उपजावति त्रासु,

दुसह मक बिस कौ करैं,
जैसे मोठ मिठासु ।। ३६० ।।
ढीठि परोसिनि ईठि ह्वै
कहे जु गहे सयानु,
सबै मँदेसे कहि कह्यौ
मुसकाहट मै मानु ।। ३८३ ।।
मारचौ मनुहारिनु भरी,
गारचौ खरी मिठाहिं,
वाको अति अनखाहटौ,
मुसकाहट बिनु नाहि ।। ४६८ ।।
[बिहारी-रत्नाकर]

किंतु त्रिपाठी जी ने तो 'एक-एक शब्द और महावरो' पर विचार किया है, इसलिए वे यदि इस प्रमाण को न माने तो हम कर ही क्या सकते है ।

खडी बोली की पुट के कारण भी 'मूल गोसाईं-चरित' अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता । खडी बोली काफी पुरानी है । कम-से-कम अकबर के समय मे तो वह विद्यमान थी ही । गगा भाट ने 'चंद छद-बरनन की महिमा' अकबर को खड़ी बोली में सुनाई थी । काव्य-भाषा पर जिसका अधिकार नही रहता, उस पद्यकार की भाषा मिश्रित हो जाती है । वेणीमाधवदास अच्छा कवि नहीं हं, उसकी भाषा का मिश्रित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नही ।

'मूल गोसाईं-चरित' में एक स्थल पर 'सत्य शिवं सुंदर' का प्रयोग हुआ है । उक्त ग्रथ के अनुसार गोसाईजी ने काशी में पहले पहल अन्नपूर्णा और विश्वनाथजी को रामचरित-मानस सुनाया, और—

पोथी-पाठ समाप्त कै के धरै
सिव-लिंग ढिग रात मे
मूरख, पडित, सिद्ध, तापस जुरे
जब पट खुलेउ प्रात मे ।
देपिन तिरषित दृष्टि ते सब जने,
कीन्ही सही संकरं,
दीव्याषर सो लिख्यो पढै धुनि सुने
सत्य सिव सुदरं ।

इस पर त्रिपाठीजी महाराज की यह टिप्पणी है—"इस 'सत्य शिवं सुदर' ने तो मूल चरित के आधुनिक रचयिता को अँधेरे मे से खीचकर उजाले मे लाकर खड़ा कर दिया। सत्य शिवं सुंदरं सस्कृत का प्राचीन वाक्य है, पर अभी थोड़े दिनो से ही हिंदीवालो मे इसने प्रवेश पाया है। हिंदी के किसी प्राचीन कवि ने इसका उपयोग नही किया था। तुलसीदास ही ने नहीं किया, तो उनके एक साधारण पढ़े-लिखे कल्पित चेले की क्या बिसात थी, जो इस वाक्य तक पहुँचता ?"

यदि, जैसा त्रिपाठीजी मान रहे है, 'सत्य शिवं सुंदर' 'सस्कृत का पुराना वाक्य है', तो वह मूल गोसाई-चरित' की प्रामाणिकता का पोषक ही है बाधक नही। यदि वह प्राचीन काल में प्रचलित था, तो चाहे जिसकी नजर में पड जा सकता है। यह कोई बात नही कि गोसाईजी ने स्वय उसका प्रयोग नही किया' तो उनका 'तुकरक' चेला भी उसका प्रयोग न कर सके। त्रिपाठीजी तक को तो यह मालूम हो गया है कि यह सस्कृत का वाक्य है। परतु उन्होने यह बतलाने की कृपा नही की कि उसका प्रयोग उन्होने सस्कृत के किस ग्रथ मे देखा है। तथ्य यह है कि सस्कृत के किसी ग्रथ मे इसका प्रयोग अब तक नही मिला है। कम-से-कम प्रधान उपनिषदो मे, जिनमे उसके मिलने की आशा हो सकती है, वह नही ही मिलता।

इस 'सत्य शिव सुंदर' का उल्लेख हमारे ग्रथ मे नही किया गया है। इस सबध में बाबू श्याम सुदरदासजी और मुझमे मतैक्य नहीं था। वह त्रिपाठीजी की तरह यह तो नही कहते थे कि यह सस्कृत का प्राचीन वाक्य है, परतु उनकी सम्मति में इसमे ऐसी कोई बात नहीं कि इसका प्रयोग सत्रहवी शताब्दी का कोई लेखक न कर सके। इसलिये इसके कारण मूल-चरित की प्रामाणिकता पर कोई सदेह नही किया जाना चाहिए।

मेरा मत था कि यह तो नही कहा जा सकता कि 'सत्य शिव सुदर' का भाव हमारे यहाँ था ही नही, और न इस पदावली का प्रयोग प्राचीन काल में असभव ही था, पर एक तो यह प्राचीन ग्रथो मे मिलता नही, दूसरे इसका ब्रह्मसमाज के साथ-साथ आविर्भाव यह सदेह उत्पन्न करता है कि यह 'दि ट्रू, दि गुड और दि ब्यूटीफुल' का उपनिषदी भाषा में अनुवाद है। इसलिये इसके कारण जहाँ एक ओर 'मूल गोसाई-चरित' निश्चित रूप से जाली नही माना जा सकता, वहाँ दूसरी ओर उसका वेणीमाधव-रचित होना भी निश्चत रूप से नही माना जा सकता। 'मूल गोसाई-चरित' पर मैंने अपना स्वतत्र मत एक निबध में दिया था, जो १९३५ मे हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के इंदौरवाले

अधिवेशन में पठनार्थ भेजा गया था। उसके थोड़े समय बाद ही वह 'वीणा' में प्रकाशित हुआ था, और फिर सम्मेलन-निबधावली मे उससे मैने 'सत्य शिव सुंदर'-सबंधी विवेचन कुछ विस्तार के साथ दिया है। उसमें मैने दिखाया है कि सत्य और शिव का ब्रह्मपरक प्रयोग अलग-अलग हुआ है, पर 'सुदर' का उपनिषदो में कही ऐसा प्रयोग नही हुआ। परतु इधर धीरे-धीरे बाबू श्याम-सुदरदासजी का ही मत पुष्ट होता हुआ दिखाई दे रहा है, क्योकि सस्कृत में न सही, स्वय हिदी में 'शिवं सुदरं' का एक साथ प्रयोग हुआ है, और वह भी स्वय गोसाईजी द्वारा। 'विनय-पत्रिका' के एक पद मे शकर की प्रार्थना करते हुए गोसाईजी ने कहा है—

> कबु-कुदेदु-कर्पूर-गौरं शिव
> सुदर सच्चिदामदकद*

विश्वनाथजी को गोस्वामीजी ने 'शिव सुंदर' कहा है। यदि वेणीमाधव-दास की कल्पना ने विश्वनाथजी के द्वारा उनके रामचरित-मानस के लिये 'सत्य शिव सुदर' कहलवा दिया हो, तो क्या आश्चर्य ?

और, यह भी तो संभव है कि 'सत्य शिवं सुंदरं' इस छद में हो ही नही। हमारे मस्तिष्क में पहली से बैठी हुई यह पदावली हमे भ्रम से उसमे प्रति-भासित हो रही हो। उलटे कॉमा के भातर 'सत्य सिव सुंदर' की सारी पदा-वली न होकर केवल 'सत्य' हो, और 'सिंव सुंदर' 'संकर' के लिये आया हो। 'सिवं सुदरं' 'सकर' के द्वारा दिव्याक्षरो मे लिखे 'सत्य' शब्द को लोगो ने पढ़ा, और उसी की ध्वनि सुनी भी। यह अर्थ विनय-पत्रिका वाले उपर्युक्त पद के सर्वथा अनुकूल है।

प० रामनरेश त्रिपाठी ने 'मूल गोसाईं-चरित' की अप्रामाणिकता उसमें दी हुई तारीखो से भी सिद्ध करने का यत्न किया है। उनका तर्क कुछ-कुछ इस प्रकार का है। जो तारीखें मूल-चरित में गलत दी हुई है, वे उसकी अविश्वस-नीयता की प्रमाण हैं जो सही है, वे जाली होने की। परंतु मै मूल-चरित को जो निश्चित रूप से जाली मानने के लिये अभी तैयार नही हूँ, उसका एक कारण यह भी है कि उसमें तारीख की एकाध ऐसी गलती भी है, जो आज कल के किसी जाल रचने वाले से नही हो सकती। केशवदास की रामचद्रिका के प्रणयन और उनके प्रेत-योनि से उद्धार का जो समय मूल-चरित में दिया हुआ है, वह ऐसा ही है। केशवदास का समय बहुत कुछ स्थिर है। अपनी

*—सदा शकर शप्रदं इत्यादि। (पद १२)

रचनाओ में उन्होंने स्पष्ट रूप से तारीखें दी है, जो किसी भी जाल रचनेवाले को सरलता से सुलभ हो सकती थी। इसी प्रकार आजकल का कोई जाल रचनेवाला यह नही कह सकता कि प्राकृत कवि केशवदास ने रामचद्रिका एक ही रात मे रच डाली थी।

एक करामात तो त्रिपाठीजी ने बहुत बढी-चढी की है। 'मूल गोसाई-चरित' के लिये कहा जाता है कि वह गोसाई-चरित का संक्षेप है। इस गोसाईं-चरित के सबध म त्रिपाठीजी ने लिखा है—

"शिवसिह ने उक्त चरित को देखा था या नही, इस विषय मे मुझे सदेह है। देखा होता, तो कम-से-कम तुलसीदास के जन्म-सवत् में दोनो ग्रथकारो मे मतभेद न होता। · यदि शिवसिह की यह बात मान भी ली जाय कि उन्होने वेणीमाधवदास का गोसाईं-चरित देखा था, तो यह भी मान लेना ही चाहिए कि उन्होने उसे पढा नहीं था।" (पृष्ठ ७४)

शिवसिह ने गोसाई-चरित देखा हो या न देखा हो, परंतु इसमें सदेह नही कि इस सबध में त्रिपाठीजी ने 'सिवसिह-सरोज' नही देखा। ऊपर लिखी बात उन्होंने हमारे इस 'सपादन' (त्रिपाठीजी की बोली मे) के आधार पर लिखी है, 'शिवसिह-सरोज' को देखकर नही—"गोसाईं-चरित' का सबसे पहला उल्लेख शिवसिह सेंगर ने 'शिवसिह-सरोज' में किया है। उन्होने स्वय उसे 'देखा' था। पर इस देखने से ध्यान-पूर्वक पढ़ना भी सम्मिलित है, इसमे हमें सदेह है, क्योकि गोसाईजी के जन्म का ही सवत् जो शिवसिह ने दिया है, वह बाबा वेणीमाधवदास के 'मूल गोसाई-चरित' (मे दिए गए सवत्) से नही मिलता।" (गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ २१)

अपने कथन को उन्होने अपनी नवीन खोज से पुष्ट किया है, जो आगे के इस वाक्य मे है—"पढा होता, तो वे सवत् लिखने ही मे भूल से न बचते, बल्कि अपने 'सरोज' में वेणीमाधवदास का परिचय और उनके कुछ छद भी देते जैसा उन्होंने अन्य कवियो के लिये किया था।"

परंतु यदि त्रिपाठीजी ने इस सबध में 'शिवसिह-सरोज' पढ़ा होता, तो वे ऐसा कभी न लिखते। या उन्होने १९३५ की 'वीणा' मे 'मूल गोसाई-चरित की प्रामाणिकता'†-शीर्षक मेरा निबध ही पढ लिया होता, जो उनके इस ग्रथ

†—मेरे निबध का शीर्षक था 'मूल गोसाईं-चरित की प्रामाणिकता की समस्या', परतु मंत्री-सपादक महोदय ने अपने कुल्हाड़े से काटकर उसे छोटा कर दिया। इससे उनकी पत्रिका और निबंधावली के लिये बड़े

के छपने के दो वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका था, तो उनसे यह गलती न होती। क्योकि जैसा मैने उक्त लेख में बताया है, 'सरोज' मे शिवसिह ने वेणीमाधवदास का परिचय और उनकी कविता का उदाहरण भी वैसे ही दिया है, जैसे और कवियो का। वेणीमाधवदास का परिचय यह है—

"१३ दास (२) वेणीमाधवदास, पसका, जिले गोडा, सं० १६५५ में ३० यह महात्मा गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य उन्ही के साथ रहते रहे है, और गोसाईजी के जीवन-चरित्र की एक पुस्तक 'गोसाई-चरित्र' नाम बनाई है। सवत् १६९९ में देहांत हुआ।"*

कविता का उदाहरण यह है—

२७७ दास कवि वेणीमाधवदास पसकावाले

(गोसाई-चरित्र)

तोटक छंद

यहि भाँति कछू दिन बीति गए,
अपन-अपने रस रग रए,
मुखिया इक जूथप माँझ रहै,
हरिदासन को अपमान गहै। (पृष्ठ १३१)

यह बात ध्यान देने की है कि शिवसिह ने कविता का जो उदाहरण दिया है, उसे गोसाईं-चरित का बताया है। और, यद्यपि उसमें कही गोसाईजी का उल्लेख नहीं है, तथापि शिवसिह का विश्वास न करने का कोई कारण नही दिखाई पडता।

त्रिपाठीजी की यह करामात देखने योग्य है। हमारे तर्को को उन्होने 'लचर' कहा है। विना परिश्रम किए लिखने के लिये उन्होने लोगो को बुरा-भला कहा है। किसी के प्रयत्नो को दुस्साहस कह देने मे तो उनका कुछ लगता ही नही। वेणीमाधवदास को उन्होने इन शब्दो में याद किया है—"एक साधारण तुकबद ने ग़ैर-ज़िम्मेदारी के साथ जो कुछ उसके मग़ज़ मे से निकला या निकलवाया गया, बेसिर-पैर के पद्यो में निकालकर रख दिया है। हमे उसका कहाँ तक विश्वास करना चाहिए।" सब तो त्रिपाठीजी कह चुके है। हम उनकी कविजनोचित कपोल-कल्पनाओ के लिये क्या कहें।

टाइप मे एक पंक्ति का शीर्षक तो बन गया, पर मेरे अभिप्राय का सर्वथा हनन हो गया।

* शिवसिह 'सरोज' (पृष्ठ ४३२)

यह है त्रिपाठीजी की खोज, जिसके बल पर उन्होंने हिंदी के साहित्यिकों से सातवें आसमान पर से बाते करने का रुख पकड़ा है। ये है त्रिपाठीजी के दीये, जो उन्होंने अपनी समझ से रास्ते के किनारों पर छोड़े है। उनकी आशा है कि साहित्य के "आकुल-व्याकुल" पथिक इनको "हाथ में लेकर साहित्य का राजमार्ग खोज निकालने में समर्थ" होंगे (प्रस्तावना, पृष्ट ५)। और लोग है, जो इन्ही बिना तेल-बत्ती के सकोरो को हाथ मे लिये साहित्य का राजमार्ग खोज रहे है। हम सोच रहे है, साहित्य का क्या होगा ?

त्रिपाठीजी ने भी कोई-कोई बात कितनी सच्ची कही है—"जान पडता है, हिंदी में ठोस काम करनेवालों का समय नही आया है। साहित्य मे एक अंधड-सा चल रहा है, और साहित्य-पथ के पथिक अंधकार में उद्दिष्ट रास्ते की खोज करते हुए आकुल-व्याकुल की तरह दौड़ रहे है।" (प्रस्तावना, पृष्ठ ४-५)।

एक नवीन रस के उद्भावक—हरिश्चंद्र

भक्त दो प्रकार के होते हैं। कुछ का तो मंदिर के गर्भ-गृह, मूर्ति के पास तक प्रवेश होता है और कुछ को अर्गला के पास तक ही जाकर वहीं से अपनी श्रद्धाभक्ति निवेदित कर मदिर की परिक्रमा कर वापस आजाना पड़ता है। पहले प्रकार के भक्त पुजारी-श्रेणी के भक्त हैं। उनको देवमूर्ति में सोना, काठ, पत्थर और मिट्टी भी दिखाई देती है जो मैली भी हो जाती है, जिसे प्रति दिन धोने और सजाने की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु बाहर-वाले भक्तो को उस मूर्ति में केवल देवत्व दिखायी देता है, जो सदैव निर्मल उज्ज्वल और दीप्तिमान रहता है। इस पूत भावना से स्वय दीप्तिमान होकर वह अपने देवता के अतरतम में भी प्रवेश पा सकता है, जबकि पुजारी मूर्ति को धोता, सिंगारता ही रह जाता है। मै दूसरे प्रकार का भक्त हूँ। परंतु मेरा यह दावा नहीं है कि इस देवमूर्ति के साहित्य-मदिर की परिक्रमा करके ही मैं उसके अतरतम मै प्रविष्ट हो गया हूँ।

भारतेन्दु हरिश्चद का कार्य इतना महान् है कि उसकी परिक्रमा कर पाना भी बहुत कठिन है। साहित्य के विभिन्न अगो की पूर्ति करते हुए उन्होने अनगिनित रचनाओं का निर्माण किया। साहित्य-शास्त्र, काव्य, रूपक, इतिहास, उपन्यास आदि साहित्य का कोई ऐसा अग नहीं जिस पर उन्होने लेखनी न चलायी हो और जिसे सौंदर्य न प्रदान किया हो। साहित्य के इतने विस्तृत क्षेत्र में कार्य करते हुए उन्होंने अपनी दृष्टि भी उतनी ही उदार विस्तृत और व्यापक रखी। यह छोटा सा पद्य जिसे वे सिद्धान्तवाक्य की तरह काम मे लाते थे, उनकी इस उदार दृष्टि का सूचक है—

"खल गनन सो सज्जन दुखी मत होहि हरिपद रति रहै।
अधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै कर-दुख वहै॥
बुध तजहि मत्सर, नारि नर सम होहि जग आनद लहै।
तजि ग्राम-कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै॥"

उस काल मे जो व्यक्ति धार्मिक कट्टरता की दीवाल को तोड़ कर सम्प्र-

दाय-बुद्धि के दूर होने की प्रार्थना कर सकता था, उसकी उदारता के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नही। इसी उदार दृष्टि द्वारा वे तत्कालीन जीवन के परिष्कार मे प्रवृत्त हुए थे। उपर्युक्त पद्य से स्पष्ट है कि जीवन का कोई ऐसा अग नही जिसकी ओर उनकी यह उदार किन्तु पैनी दृष्टि न गयी हो। शिक्षा-प्रचार, समाज-सुधार, धर्मोदार्य आदि महत्वशाली कार्यो मे उन्होने अपनी लेखनी और जीवन दोनो को लगा दिया। अपने इन महान उद्देश्यो की पूर्ति का प्रयत्न उन्होने स्वयम् व्यावहारिक रूप से भी किया और अपने निर्माण किये हुए बृहत्काय साहित्य के द्वारा भी। आश्चर्य यह है कि जिस अवस्था से आजकल हम अपना जीवन आरभ भी नही कर पाते उस अवस्था मे वे अपने जीवन के बृहत्कार्य को समाप्त कर शाश्वदात्मा में लीन हो गये थे। आज हम देश मे जिन-जिन आदोलनो का (उपाय भेद का नही) विशेष प्रचार देख रहे है उनका आरभ हरिश्चन्द्रजी निर्मित साहित्य ही से हो जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि बहुत लिखने के कारण ही भारतेन्दु का महत्व नही है, परन्तु इस लिए भी कि उन्होने जो कुछ लिखा है वह तत्वपूर्ण है। इसीलिए उनका हमारे जीवन पर ही नही साहित्य की गति-विधि पर भी घनिष्ट प्रभाव पड़ा है।

ऐसे बहुत कम लोग है जिनकी कृतियो से साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तो पर प्रभाव पड़ सकता है। परन्तु यह अद्वितीय महत्व भी भारतेन्दु को प्राप्त है। हमारे साहित्य-शास्त्र के आज तक के विकास का परिणाम रस-पद्धति है। रस-पद्धति में काव्यालोचन के सिद्धान्तो का मनोवैज्ञानिक निरूपण किया गया है। रस, आप जानते है कि वह आनन्द है जो किसी भाव के उदय होने से लेकर परिपक्वास्था तक उपयुक्त सांगोपाग परिस्थितियो के बीच निर्वाह को अनुभूति-पथ मे ले आने से होता है। परतु इस प्रकार सागोपाग परिस्थितियो में उसी भाव का निर्वाह हो सकता है जो तल्लीनता की अवस्था ले आनेवाला हो, प्लावनकारी हो, और भावो को अपने मे डुबाता चले। ऐसे भावो को स्थायी भाव कहते है। जो भाव ऐसे नही है, उन्हे सचारी भाव कहते है, क्योकि वे स्थायी भाव को आगे बढ़ाकर उनसे सचरण का कार्य करवाते है। स्थायी भाव नौ माने जाते है—आश्चर्य, उत्साह, हास, शोक, भय, क्रोध, जुगुप्सा, निर्वेद, रति। इन भावो का हृदय पर इतना अधिकार है कि अनुकूल परिस्थितियो में ये रस के रूप में आविर्भूत हो जाते है। स्थायी भाव विभाग इतना पूर्ण है कि संभवतः इसमे परिवर्तन करना अशक्य है। परन्तु आलबन के भेद से इनके उपभेद हो सकते है। दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर आदि में उत्साह

के उपभेदो के दर्शन होते है। इसी प्रकार आलम्बन-भेद से रति के भी उपभेद हो सकते है। रति के भाव को शृगार अथवा दाम्पत्य-प्रेम में ही समाप्त समझना उसके क्षेत्र को सकुचित करना है। बहुत प्राचीन काल से लोग इसका अनुभव करते आये हैं। वात्सल्य रस इसका एक प्रमाण है। हिन्दी में सूर के काव्य को पढकर वात्सल्य के रसत्व मे किसे सन्देह हो सकता है? वात्सल्य भी रति ही के अन्तर्गत है। भेद इतना ही है कि उसमें आलम्बन अपत्य है। किन्तु उसे दसवॉ रस न मानकर विशाल प्रेमरस का एक उपभेद मात्र समझना चाहिए। इसी प्रकार मध्य युग के साधु-सन्तों ने प्रेम-रस के एक और उपभेद की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिसे भक्ति अथवा भगवद्-भक्ति-रस कह सकते है। इसमे रति का आलम्बन भगवान् होते हैं। लोगों का खयाल है कि साहित्यिक व्यक्ति भगवद्भक्ति से विरत रहते है। इसमे शायद सन्देह की जगह नही कि साहित्य-रसिक शुष्क विरक्ति को नही पसद कर सकते। परन्तु यह कहना कि वे भक्ति-रस से भी विरत रहते है उनकी रसिकता पर आघात करना है। इसके विपरीत साहित्यिक तो यह मानते हैं कि जिन्होने भक्ति-रस का आस्वादन नही किया 'रस-विशेष जाना तिन नाही।' स्वयं हरिश्चन्द्रजी इस रस मे ओत-प्रोत थे। हरिश्चन्द्रजी की रचनाओ तथा जीवनी से प्रेम-रस के एक और उपभेद की अवस्थिति की सभावना दिखायी दी और वह है देश-भक्ति-रस।

देश-भक्ति का भाव ही पहले नहीं विद्यमान था, यह तात्पर्य नही। सस्कृत का "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" तो प्रसिद्ध ही है। गोसाई तुलसीदासजी ने भी राम से कहलाया है—

"जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि।
उत्तर दिसि सरयू बह पावनि॥
यद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना।
वेद-पुरान विदित जग जाना॥
अवध सरसि मोहि प्रिय नहि सोऊ।
यह प्रसंग जानै कोउ-कोऊ॥"

और भी—

अति प्रिय मोहि यहॉ के बासी।
मम धामदा पुरी सुखरासी॥

परन्तु ये केवल छीटे ही थे। हरिश्चन्द्रजी ने तो इसकी धारा ही बहा डाली। उनकी रचनाओ में देश-रति के भाव को स्थायित्व प्राप्त

हुआ है। क्योकि देश-भक्ति स्वयं उनके जीवन मे व्याप्त थी। उनके सब कर्म बहुधा देश-प्रेम की ही प्रेरणा के फलस्वरूप दृष्टिगत होते थे। भाषा, साहित्य, समाज, धर्म सब का सुधार वे देशोन्नति के लिए ही चाहते थे। उस उदारता के उदाहरण-स्वरूप ऊपर उनका जो पद उद्धृत किया गया है, वह उनकी उत्कट देश-भक्ति का परिचायक है। उनके निर्मित अधिकाश साहित्य मे यही भाव प्रमुख है। यह तो सभी जानते है कि दान-वीरता उनकी जीवनी में उनके देश-प्रेम की सचारी थी। देश-रति ही के कारण वे मिश्र में भारतीय सेना की विजय पर उछल पडते है, भारत की दुर्दशा पर आँसू गिराते है, देश की उन्नति के लिए स्वय प्रयत्नशील होते है और समाज को उद्बोधित कर प्रयत्न मे लगाते है—तथा परमात्मा से उसकी उन्नति की प्रार्थना करते है। उनके हर्ष, चिता, स्मृति, मति, विषाद, आदि सब देश-प्रेम के सचारी है। देश-प्रेम का भाव उनकी कुछ रचनाओ इतना में प्रबल है कि एकाध स्थायी भाव भी उसके सम्बन्ध मे सचारी हो गये है। 'भारत-दुर्दशा' मे शोक का बहुत प्राधान्य है। परन्तु यह शोक देश-प्रेम का ही सचारी है—

> रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
> हाहा ! भारतदुर्दशा न देखी जाई। ध्रुव
> सबके पहले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
> सबके पहले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
>
> सबके पहले जो रूप रग रस भीनो।
> सबके पहले विद्याफल जिन गहि लीनो।
> अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
> हा-हा भारतदुर्दशा न देखी जाई।
>
> जहँ भये शाक्य हरिचन्दरु नहुष ययाती।
> जहँ राम, युधिष्ठिर, वासुदेव, सर्याती।
> जहँ भीम, करण, अर्जुन की छटा दिखाती।
> तहँ रही मूढता, कलह, अविद्या राती।
>
> अब जहँ देखहु तहँ दु खहि दु ख दिखाई।
> हा हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।
> लरि बैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
> करि कलह बुलाई जवनसैन पुनि भारी।

तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु भारी।
छाई अब आलस कुमति-कलह-अँधियारी।
भय-अन्ध पगु सब दीन-हीन बिलखाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई।
—इत्यादि

भारत की महिमा दिखलाते हुए इसी नाटक मे भारतेन्दुजी ने लिखा है —

याही भुव मँह होत है हीरक आम कपास।
इतही हिमगिरि गग-जल काव्य-गीत प्रकास।
जाबाली जैमिनि गरग पतजलि सुकदेव।
रहे भारतहि अंक मे कबहुँ सबे भुवदेव।

याही भारत भव्य मे रहे कृष्ण मुनि व्यास।
जिनके भारत गानसो भारतबदन प्रकास।
याही भारत मे रहे कपिल सूत दुरवास।
याही भारत मे भये शाक्यसिह सन्यास।

याही भारत मे गये, मनु भृगु आदिक होय।
तब तिनसो जग मे रह्यो घृना करत नहि कोय।
जासु काव्य सो जगत मधि अबलौ ऊँचो सीस।
जासु राज-बल धर्म की तृषा करहि अवनीस।

सोई व्यास अरु राम के बस सबै सतान।
ये मेरे भारत भरे सोइ गुन रूप समान।
सोई वश रुधिर वही सोई मन विश्वास।
वही वासना चित वही, आसय वही विलास।

कोटि-कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि-कोटि अतिसूर।
कोटि-कोटि बुध मधुर कवि मिले यहाँ की धूर।
सोइ भारत की आज यह भई दुरदसा हाय।
कहा करै कित जायँ नहि सूझत कछू उपाय।

वही भाव स्थायी हो सकता है जिसमें गहरी तन्मयता हो। सम्भवतः दो एक शताब्दी पहले लोगो को यह समझ सकने में कठिनाई होती कि देश-प्रेम किस प्रकार स्थायी भाव के अन्तर्गत आ सकता है। भारत-भारती में इसी कारण सरस काव्य का, अभाव माना जाता था। किन्तु अब जब

लोग देश-प्रेम के पीछे संसार के बडे से बडे सुख-वैभव को बिना किसी कसक के साथ छोडते है और घोर से घोर संकट का सुख के साथ आवाहन करते तथा जेल की यातना को बडे आनन्द के साथ आलिंगन करते देखे जा रहे है, तब देश-प्रेम के स्थायी भावत्व को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार देश-प्रेम का स्थायित्व सैद्धान्तिक रूप से ही नही व्यावहारिक रूप से भी प्रकट हो गया है। इतना ही नहीं आजकल की परिस्थितियो में तो ऐसा जान पडता है कि देश-रति ने दाम्पत्य-रति को भी बहुत कुछ प्रभावित कर डाला है। कविसम्राट् 'हरिऔध जी' जैसे सतर्क कवि का भी नायिका-भेद में देश-प्रेमिनी, जाति-प्रेमिनी आदि नायिकाओ को स्थान देना इसका उत्कट प्रमाण है:—

जाति-प्रेमिका

सरसी समाज-सुख-सरसिज-पुंज की है,
सुरुचि-सलिल की रुचिर सफरी सी है।
नाना कुल-कालिमा-कलुख की कलिंदजा है,
कल-करतूत-मंजु-मालिका लरी सी है।।
'हरिऔध' बहु-भ्रम-भँवर समूह भरी,
सकल-कुरीति-सरि सबल-तरी सी है।
जाति-हित-पादप-जमात - नव-जीवन है,
जाति-जन-जीवन सजीवन जरी सी है ।।८।।

देश-प्रेमिका

वारती नगर पर मंजु-अमरावती कौ,
नागर निकर कौ पुरदर है जानती।
धेनु कौ कहति कामधेनु सम काम-प्रद,
कामिनी कौ सुर-कामिनी है अनुमानती ।।
'हरिऔध' भारत-अवनि-अनुराग वती,
विपिन कौ नंदन-विपिन है बखानती।
तरु कौ बतावति कलपतरु कमनीय,
मेरु कौ मनोरम सुमेरु ते है मानती ।।११।।

—रस-कलस

इसमें भी सन्देह नहीं कि परिस्थितियो के इस परिवर्तन में हरिश्चन्द्रजी का बहुत कुछ हाथ रहा है। क्योकि साहित्य, जन-समाज की मानसिक

अवस्था का परिचायक होने के साथ-साथ उसमें प्रगति उत्पन्न करने का कारण भी होता है, और श्रीधर पाठक के 'भारत गीत', मैथिलीशरण जी गुप्त की 'भारत-भारती' तथा 'प्रसाद' जी के "निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष" आदि में निर्मल धारा बह रही है, उसका गोमुख हरिश्चन्द्रजी के ही काव्य में है ।

निबन्धकार द्विवेदी

काशी की नागरी प्रचारिणी सभा द्विवेदी का अभिनदन करने जा रही थी। वातावरण मे अभिनदन की चर्चा व्याप रही थी। उसे दृष्टि में रखकर एक अहिंदी-भाषी धुरधर विद्वान ने एक हिंदी-भाषी विद्वान से पूछा—क्या द्विवेदी जी की रचना के किसी अनपहचाने अश के सामने आते ही यह कहा जा सकता है कि यह उनके अतिरिक्त किसी दूसरे का हो नहीं सकता? साहित्यिक यशस्विता के लिए यह आवश्यक है कि लेखक के निर्मित साहित्य में उसके व्यक्तित्व की छाप हो।

पाश्चात्य-साहित्य मे, जो निबंधो के लिए भी आधुनिक प्राच्यो का आदर्श है, निबधो का जिस प्रकार सूत्रपात हुआ उससे वह यहाँ अब भी विशेष रूप से वैयक्तिक रूप रचना समझी जाती है। इससे उसमें लेखक के व्यक्तित्व की छाप की आशा और भी बलवती हो जाती है। परतु द्विवेदी जी के निबधो में न मनकी बहक है और न भाषा की रंगीनी तथा चुलबुलाहट, जिनमें अधिकतर व्यक्ति की विलक्षणता दिखायी देती है।

द्विवेदी जी की विशेषता है अपने उद्दिष्ट विचारों को सरल और सीधे सादे ढग से प्रकट करना, जो विलक्षणता नही समझी जायगी। वे एक उद्देश्य-को लेकर लिखते थे। अपने निबधो के द्वारा वे पाठको की ज्ञान-वृद्धि करना चाहते थे। 'सरस्वती' मे वे अकेले कई आदमियो का काम करते थे। उनकी लेखनी से निबंधो की अजस्रधारा निकलती रहती थी, जिनके विषय-विभेद की कोई सीमा नहीं थी। स्वभावतया द्विवेदी जी को न इतना समय मिल सकता था कि वे उनमें केवल अपने विचार रखते और न यही सभव था कि वे उन सब विषयो पर प्रभुत्व जमा लेते, जिन पर उन्हे कर्तव्य-वश लिखना पडता था। ज्ञान के क्षेत्र मे, कहाँ क्या नवीन उद्भावना हुई है, इसका वे हर घडी पता रखने का यत्न रखते थे। उन्हे किसी नवीन बात का पता लगा नही कि उन्होने उसे 'सरस्वती' के पाठको की भेंट किया। उनके निबंधों को 'बातो के संग्रह' के रूप में लिखा गया कहकर समर्थ समालोचक पं० रामचंद्र

शुक्ल ने इसी बात की ओर सकेत किया है । वस्तुतः द्विवेदी जी ने थोडे से सीमित विषयो पर अपनी तीव्र अंतर्दृष्टि का प्रयोग करने की अपेक्षा अपनी विशेष परिस्थिति में यही कल्याणकर समझा कि जगत में उच्च श्रेणी के विद्वान् ज्ञान की जो सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं, उसका जनता को परिचय करा दिया जाय । अर्थात् वे व्यापक अर्थ में ज्ञान-विज्ञान के पत्रकार थे और पत्रकार भी साहित्यिक अभिरुचि के ।

परतु उनके रचे ऐसे निबधो का भी सर्वथा अभाव नही है, जिनमे की बातें उन्हीं के परिश्रम के फल है । कवि सुखदेवमिश्र पर उनका लिखा हुआ निबध इसका उदाहरण है । रसज्ञ रजन मे प्रकाशित 'कवि और कविता' शीर्षक उनका निबध भी मौलिक रचना मानी जानी चाहिए । जहाँ उन्होने दूसरो के विचारो को निबधरूप मे रक्खा है, वहाँ भी उन्होने केवल अनुवादक का काम नहीं किया है । दूसरे विचारों को मानसिक-पाचन के द्वारा वे सर्वथा अपना लेते थे , और इस प्रकार उन्हे वे अपन निबंधो में जनता के सामने रखते थे कि वे मौलिक से लगने लगते थे, यद्यपि वे मूलस्रोत का सदैव उल्लेख कर देते थे । उनके अनुवादो के सबध में भी यही कहा जा सकता है ।

बात यह है कि उनके निबधो में वह मूल गुण विद्यमान है, जिसके कारण निबध नाम सार्थक हो सकता है । उनके निबध बँधे हुए है, सुगठित है । उनकी विचार-परपरा गतिमय किंतु गुफित तथा रचना व्यवस्थित है । शिथिलता का उनमे नाम नही । कही-कहीं पर अपनी बातो को उन्होने दुहराया अवश्य है, परतु ऐसे स्थल सर्वदा समझाने के लिए पुनरुक्ति मात्र नही हैं, केवल व्याख्यानी ढग नही, तद्गत विषय के सबध मे उनके हृदय के उत्साह को भी सूचित करते है, इसलिए शैथिल्य के द्योतक नही । देखिये—"नेत्रधारियो के नेत्रो को यदि आप-का रूप देखने को मिल जाय तो मानो उन्हें सब-कुछ मिल गया- उन्हे समस्त अर्था की प्राप्ति हो गयी, वे सफल हो गये । आपके गुण-समुच्चय और रूपराशि का वर्णन दूसरो के मुख से सुन कर मै आप पर मुग्ध हो गयी हूँ—मेरा निर्लज्ज मन आप पर आसक्त हो गया है ।"

उनके निबधो को नीरस या शुष्क कहना ठीक नही । द्विवेदीजी के निबंध विचारात्मक और विचारोत्तेजक हैं और इसी कारण गभीर भी, परंतु वे सर्वथा नीरस नही कहे जा सकते । वे चाहे शास्त्रीय अर्थ में रसवान न हो, पर रोचक अवश्य है । द्विवेदीजी केवल मस्तिष्क को ही सजग नहीं रखते थे, कभी-कभी हृदय के प्रभाव को भी विना रुकावट बहने देते थे । श्रीमद्भागवत

से उनको बड़ा प्रेम था। 'रुक्मिणी हरण' शीर्षक निबंध में उन्होने जिस उत्साह और तल्लीनता के साथ उसका स्मरण किया है, वह देखने योग्य है—

श्रीमद्भागवत में एक नही, अनेक स्थल ऐसे है, जो महाकवियो की भी वाणी को मात करने वाले है। वे उत्कृष्ट कविता के नमूने है। वे अत्यत सरस, सालंकार और प्रसाद गुण दर्पण है। किसी किसी स्थल में तो प्रकृत रस का इतना अधिक परिपाक हुआ है कि उस स्थल की रचना के आस्वादन में हृदय तल्लीन हो जाता है, कुछ समय के लिए आत्मा विस्मृत सी हो जाती है और मालूम होने लगता है कि आकलन कर्त्ता का मन किसी और उच्चलोक में बिहार कर रहा है। उस समय आधि-व्याधियाँ भूल जाती है और हृदय में अनिर्वचनीय सात्विक भावो का उदय हो आता है।"

काव्यानद की परिभाषा का यह क्रियात्मक रूप स्वयं काव्य की कोटि तक पहुँचा हुआ दिखाई देता है।

तानेजनी मे द्विवेदीजी का मन खूब रमा हुआ जान पडता है। जहाँ कहीं इसके लिए उन्हें अवसर मिलता है, वहाँ उनकी उमग के चारुदर्शन होते है और पढ़नेवाला भी बिना उसके कटाक्ष के औचित्यानौचित्य की परवा किये उनके आनंद में भागी हो जाता है। पुस्तकालोचन सबधी निबधो में उन्हें ऐसे अवसर बहुधा मिला करते थे। आर्यो की जन्मभूमि सबधी कुछ मतो की उन्होने एक निबध मे समीक्षा की है। एक भारतीय विद्वान् के मत के विरोधी एक विदेशी विद्वान् को उन्होने इस प्रकार याद किया है—

"दास महाशय के सिद्धांतो और मतो का ज्ञान प्राप्त करके समालोचक साहब के होश उड गये है। आपकी राय है कि दासबाबू ने अपनी यह पुस्तक लिखकर बड़े साहस का काम किया है, योरुप के पुरातत्वज्ञ ऐसी बाते सुनने के आदी नहीं; लेखक के निष्कर्षो का आधार उनका कथन-मात्र है, इसलिए भय्या, हम और कुछ नही कहते हमतो बस इतनाही इशारा करके कलम को कलमदान के हवाले करते है।"

भवभूति के एक नाटक के एक अनुवाद पर उनकी यह चपेट देखिए—
'कहाँ भवभूति की सरस प्रासादिक और महा आल्हाद दायनी कविता और कहाँ अनुवादकजी की नीरस, अव्यवस्थित और दोष-दग्ध अनुवाद माला! परस्पर दोनों में सौरस्य विषयक कोई सादृश्य नही। कौड़ी-मोहर, आकाश-पाताल और ईख इंद्रायण का अंतर।

उनकी इस प्रकार की चपेटें कभी-कभी बहुत कटु भी होजाया करती थी, परंतु वह कटुता भी सर्वथा विरस नही कही जा सकती।

रचना चाहे जिस प्रकार की भी उन्होने की, इस बात का ध्यान उन्होने कभी नही छोडा कि उनके निबध कुछ चुने हुए व्यक्तियो के लिए ही नही लिखे जारहे हैं किंतु सर्वसामान्य के लिए। भाषा चमत्कार के फेर मे पडकर उन्होने कभी नही लिखा। उनकी रचना उनके पाठको और उनके अभिप्राय के बीच मे अवच्छेद का काम नही करती। वह ऋजु, सुगठित, व्यवस्थित और प्रसन्न है।

परतु ये कोई विशेषताएँ नही, जिनसे हम द्विवेदीजी की रचना को अलग पहचान सके। द्विवेदीजी की विशेषता ही यह है कि उनकी रचना विशेषता अथवा विलक्षणता से विहीन है। जिस समय उन्होने लिखना आरभ किया था, उस समय की रचनाओ में लेखको का व्यक्तित्व इतना आतिशय्यपूर्ण था कि भाषा का व्यक्तित्व ही न बन पाता था। व्यक्तिगत विलक्षणता रचना को रोचक तो अवश्य बना देती है, परतु पहले यह आवश्यक है कि रचना मे वह स्थिर तत्व भी विद्यमान हो, जिस पर विलक्षणता का परिवर्तनशील आभरण अटके। द्विवेदीजी ने यही स्थिर तत्व भाषा को प्रदान किया; परतु विलक्षणताओ के उस युग में व्यक्तिगत विलक्षण-हीनता भी एक विलक्षणता अवश्य रही होगी। इसलिए उस समय द्विवेदीजी की भी एक शैली या ढग कहा जा सकता रहा होगा और उनकी अधिकॉश रचनाओ से परिचित व्यक्ति उनकी अनजानी रचना को पहचानने में समर्थ हो सकता होगा। परंतु आगे चलकर जब द्विवेदीजी का दिखाया हुआ मार्ग लोगो को रुच गया और अधिकाधिक चलता होगया तब द्विवेदीजी की शैली (मैनर) द्विवेदीजी की न रहकर उनके असख्य अनुयायियो के द्वारा प्रायः सपूर्ण भाषा की रीति (स्टाइल) हो गयी। आज द्विवेदीजी के निबंधो में उनके व्यक्तित्व की छाप नही दिखाई देती—इसलिए नही कि द्विवेदीजी का ही व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में नही है, वरन् इसलिए कि उनका व्यक्तित्व विकसित होकर एक अधिक व्यापक व्यक्तित्व मे परिणत हो गया है।

'स्टाइल इज़ दि मैन' सरीखी एकागी उक्तियो से छोटे लोगो की माप हो सकती है, द्विवेदीजी सरीखे दिग्गज के लिए वह बहुत छोटा गज है।

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल

तीन तारीख फर्वरी (सन् १९४१ ई०) के प्रात.काल 'पहाड़ी' जी ने रेडियो स्टेशन से आकर बताया कि पडित रामचन्द्र शुक्ल अब इस ससार में नही है ! मै ठक सा रह गया । विश्वास करने को जी नही करता था । १८ जनवरी को वे लखनऊ विश्वविद्यालय की पाठ्यक्रम समिति में सम्मिलित हुए थे और मेरे यहाँ ठहरे थे । काशी-विश्वविद्यालय की हिन्दी-साहित्य-समिति की ओर से एक चिट्ठी, जिस मे उन्होने हस्ताक्षर किए थे, मुझे तीन ही चार दिन पहले मिली थी । कौन जानता था कि इतने शीघ्र ही अनभ्र वज्रपात हो जायगा ? शायद समाचार गलत हो, कुछ समय तक यह आशा बनी रही । किंतु जब काशी से आकर डाक्टर केसरीनारायण शुक्ल ने बताया तो पता चला कि वह आशा निराशा ही थी ।

शुक्ल जी का निधन समस्त हिन्दी-जगत् के लिए एक अतुलनीय दु.खद घटना है । उनके शिष्यो और सहयोगियो के लिए तो, जिन के हृदय में वे घर कर गये थे और जिनके लिए उनके हृदय मे जगह थी, यह उसी प्रकार व्यक्तिगत क्षति है जैसे उनके परिवार के लिए । मैने छ-सात वर्षों तक उनके चरणो में बैठकर शिक्षा ग्रहण की है और उतने अधिक समय तक अध्यापन कार्य मे मै उनका सहयोगी रहा । इस बीच उनके हृदय के सौंदर्य का दर्शन करने का जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ उसने इस समय मेरे शोक को अत्यत तीव्र कर दिया है । हिन्दी-साहित्य का तो आज एक स्तंभ टूट गया है । उनके निधन से इसकी जो क्षति हुई है वह अनुमान लगाने की बात नही ।(हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रो को उनकी प्रतिभा का दान मिला है और ऐसा कोई विषय नही जिसे उन्होने छुआ हो और अलकृत न कर दिया हो ।)

(हिन्दी-जगत् में शुक्ल जी अद्वितीय निबधकार थे । उनके निबध हिन्दी की अमूल्य निधि है । निबंधो के लिये उन्होने मनोविज्ञान की कठिन भूमि को चुना । करुणा, क्रोध, भय, उत्साह, लोभ और प्रीति, श्रद्धा-भक्ति,

लज्जा और ग्लानि आदि विषयो पर उन्होंने निबंध लिखे। उनकी दृष्टि विस्तृत किंतु अत्यत पैनी थी। उनका विश्लेषण गहरा और विवेचन सूक्ष्म होता था। विचारो की गहराई के कारण उनकी भाषा का कही-कही दुरूह हो जाना आवश्यक था, किंतु, उन्होने सदैव विषय को इस निपुणता के साथ स्पष्ट किया है कि पाठक यदि थोडा सा प्रयत्न करे तो जटिल-से-जटिल गुत्थी शीघ्र ही खुल जाती है। उनका दृष्टिकोण दार्शनिक था। हेकल के 'रीडल ऑव दि यूनिवर्स' का उन्होने हिन्दी अनुवाद किया था। उसकी भूमिका के रूप में उन्होने जो विवेचन दिया है, उससे उनके दर्शनशास्त्र के पाडित्य का पता चलता है।

हिन्दी-शब्दसागर हिन्दी का सबसे बड़ा कोष है जो गहन पाडित्य और बर्षों के अनवरत अध्यवसाय का परिणाम है। उसके सहकारी सपादको में शुक्ल जी प्रमुख थे। उस यज्ञ के सफलता से पूर्ण होने में शुक्ल जी के पाडित्य और उनकी प्रतिभा का बड़ा हाथ था। हम कह सकते है कि शुक्ल जी की प्रतिभा ने शब्दसागर को गहराई प्रदान की थी।

साहित्य की गति-विधियो और प्रवृत्तियो का युगानुरूप निरूपण करते हुए हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास उन्होने निर्मित किया। उस इतिहास को पढने से पता चलता है कि शुक्ल जी का हिन्दी-साहित्य का ज्ञान कितना गहरा था। हिन्दी-साहित्य की पूरी कहानी तो उन्होने अपने उक्त ग्रथ में दी ही है, उसके साथ-साथ उन्होने विभिन्न कवियो पर जो मार्मिक दृष्टि डाली है और उनकी विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

साहित्य के इतिहास में ही नही सामान्यतया इतिहास मे भी उनकी गहरी रुचि थी। इसी रुचि के कारण उन्होने मेगास्थनीज के भारतीय विवरण को हिन्दी-रूप दिया था और फारस का एक इतिहास बडी छानबीन के बाद लिखा था।

हिन्दी में नवीन आलोचना का सूत्रपात तो एक प्रकार से शुक्ल जी ने ही किया है। आलोचना के क्षेत्र मे निर्णय दे देने भर की प्रवृत्ति को उन्होने उतना प्रश्रय नहीं दिया, उन्होने प्रधानता दी आलोचना के व्याख्यात्मक स्वरूप को। जिन परिस्थितियों में कवि या लेखक का उदय हुआ, उसके मस्तिष्क का निर्माण हुआ, उसकी प्रवृत्तियो को रूपाकार मिला, पृष्ठभूमि के रूप में उनका वर्णन करके उन्होने रचना के अंतरतम मे 1 वेश किया और उसकी बहुविध विशेषताये दिखलाईं। इस प्रकार उन्होंने

काव्य के अध्ययन के सम्बन्ध मे वह परिस्थिति उपस्थित की जिससे पाठक अपने आपको उस स्थिति मे अनुभव करे जिस स्थिति में अनुभव करके रचयिता ने अपनी रचना का निर्माण किया। वह समानुभूति शुक्ल जी की विशेषता है, जिसने उनकी तीव्र अतर्दृष्टि को वस्तुत तथ्य-निरूपण मे समर्थ बनाया।

'हिन्दी काव्य मे रहस्यवाद' में उनकी आलोचनात्मक दृष्टि पूर्ण प्रखरता के साथ प्रकट हुई। प्रखरता ने उसमे समानुभूति को थोडी देर के लिए एक ओर ढकेल दिया था, परतु बहुत समय तक यह बात न रही और आधुनिक काव्य के सबध मे भी वह समानुभूति उनके हिन्दी-साहित्य के इतिहास के नवीन सस्करण मे पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित दिखाई दे रही है

पर शुक्ल जी सहित्य के समर्थ विश्लेषक और साहित्य-सिद्धात के शुष्क विवेचक ही नही थे, वे स्वय भी भावुक कवि थे। उनका प्रसिद्ध काव्य 'बुद्ध चरित' उनकी ओर से साहित्य को एक बहुमूल्य देन है। ब्रजभाषा के ऊपर यह लाछन लगाया जाता था कि उसमे कोई उच्चकोटि का महाकाव्य नही है, जो कुछ बने भी वे सर्वप्रिय न हो सके। शुक्ल जी के इस ग्रथ ने इस अभाव की पूर्ति की। यद्यपि आर्नल्ड के 'लाइट ऑव एशिया' के आधार पर इस काव्य का प्रणयन हुआ है फिर भी आनद आता है इसमे स्वतत्र काव्य का सा ही और यह पता नही चलता कि विदेशी भाषा में लिखे किसी ग्रथ की इसमें छाया भी है।

उनकी स्फुट कविताओ की सख्या भी काफी है। उन्होने अपनी कुछ कविताओ का शीर्षक रखा था 'हृदय के मधुर भार'। ये कविताएँ सचमुच उनके हृदय के मधुर भार को वहन करने वाली है और इस प्रकार सच्ची कविताएँ है। किंतु, उनमे भी उनका चितक स्वरूप छूटा नही। उनकी भावुकता भी इनमे दार्शनिकता का आवरण पहन कर आई है। कुछ लोगो के लिए इस आवरण को भेद कर उनकी भावुकता का दर्शन करना कठिन हो जाता है। इसलिए उनकी कविता के वास्तविक मूल्य का अकन नही हो पाता।

स्वय शुक्ल जी का विचार था कि उनका स्वाभाविक क्षेत्र रचनात्मक साहित्य है। उन्हें बडा भावुक हृदय मिला था। रचनात्मक साहित्य को छोड कर आलोचना और अध्यापन के क्षेत्र मे आने में उन्हे बडा त्याग करना पडा। सहित्य के अपने गहरे ज्ञान को दूसरो तक पहुँचाने के उद्देश्य से उन्होने सृष्टा होने के अमिट आनद का परित्याग कर दिया। परतु थोडा-सा दुख इस बात का

उनके अतरतम में बना ही रहा कि दूसरो की ही कृतियो का पर्यालोचन करने को वाध्य होना पडता है और अपनी ही सृष्टि करने के लिये अनवच्छिन्न अवकाश नही मिलता। यदि यह अवकाश उन्हे मिला होता तो वे साहित्य को अवश्य ऐसा अभिनव दान दे जाते जो विस्तार और गहराई दोनो मे महान होता।

किंतु, इस त्याग से जहाँ हम एक क्षेत्र के दान से वचित रहे, वहाँ दूसरे क्षेत्र मे उसने इस कमी को कही अधिक मात्रा मे पूरा कर दिया। इससे हमे अत्यत उत्कृष्ट आलोचनाएँ प्राप्त हुईं और हिन्दी-साहित्य के गहन अध्ययन का विद्यार्थियो मे विकास हुआ। इतना ही नही उनके स्रष्टा स्वरूप ने उनकी आलोचनाओ को भी केवल अलोचना से ऊपर उठा कर वह रूप दे दिया है जिससे वे स्वय रचनात्मक स्थायी साहित्य की कोटि में आ गई। उनकी आलोचनाओ को पढते समय केवल मस्तिष्क ही सक्रिय नही होता, हृदय का भी विस्तार होता है: 'गोस्वामी तुलसी दास' मे राम-राज्य की व्याख्या पढते हुए हृदय मे अपने आप तरग मालाएँ उठ आती हैं। और. ऐसे स्थल उनकी रचनाओ मे विरल नही है।

भाषा के ऊपर शुक्ल जी का बडा अधिकार था। उनके सूक्ष्म विचारो ने उसे उन्हें व्यक्त करने में क्षम बनाया। परतु वे स्वय भाषा के विद्वान् और अधिकारी लेखक ही नही थे, भाषा-शास्त्र के प्रगाढ पडित भी थे। इसका पता उनके बुद्धचरित के आरभ मे दिये हुए निबध से चलता है, जिसमें उन्होने ब्रज, अवधी और खडी का भेद दिखाया है।

शुक्ल जी का व्यक्तित्व उनकी विद्वत्ता से भी अधिक आकर्षक था। पाडित्य और सौजन्य का उनमे दुर्लभ मणि-काचन-सयोग था। वे बड़े सरल और निरभिमान थे। पाडित्य का गर्व उनको छू भी न गया था। उनकी मुद्रा पहले दूर से उनके प्रति आदर भाव उत्पन्न करती थी। पहले-पहल देखनेवालो को वे दूर-दूर हटे-से लगते थे। कितु धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो उनके साथ सपर्क बढता जाता था, त्यो-त्यो व्यक्ति उनको अपने निकट से निकट पाता था। वे जितने ही सरल थे उतन ही तरल भी। उनका हृदय सबके लिए सद्भाव और स्नेह-भरा रहता था। जो उनके सपर्क में आता, उसके हृदय में उनके लिए श्रद्धा घर कर जाती और वह सदा के लिए उनका भक्त बन जाता। उनके चारो ओर शाति, पवित्रता और शीतलता का मडल घिरा रहता था, जो सबके लिये सक्रामक होता था।

साथ ही उनकी प्रकृति बड़ी विनोदी थी। पद-पद पर वे विनोदभरी बाते

कहते थे। कक्षा में उनके भाषण सुनने मे बडा आनद आता था। कभी-कभी तो ऐसी विनोदभरी बात कह जाते थ कि कक्षा की कक्षा खिलखिला उठती थी, किंतु विशेषता यह कि उनकी गभीर मुद्रा में जरा भी अतर नही आता था। कक्षा में शुक्ल जी को देखकर विद्यार्थी कभी-कभी सोचा करते थे, शुक्ल जी भी कभी हँसते होगे ? किंतु, जब अध्यापन कार्य मे मैं उनका सहयोगी हो गया, तब मुझे पता चला कि शुक्ल जी भी कितना जी खोलकर हँसते है। उनकी इसी विनोदशीलता के कारण उनके गहन पाडित्य से भरे व्याख्यान भी मनोरम लगते थे।

शुक्ल जी के बहुमुखी पाडित्य की गहराई का पूरा-पूरा अनुमान उनके ग्रंथो से भी नही लग सकता। कागज पर सब कुछ आ भी कहाँ पाता है ? इसका अनुमान वे ही लगा सकते है जिन्होने स्वय उनके मुँह से शिक्षा पाई है। इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, भाषा-शास्त्र तथा सस्कृत, अँगरेजी और बँगला साहित्य के वे अच्छे ज्ञाता थे। हिन्दी के विषय में कहना ही क्या है ! उसके साहित्य ने पिछले पचास वर्षो मे आभ्यतर उन्नति की है, लगभग पचास वर्ष पहले हिन्दी-साहित्याकाश ने चन्द्रास्त का अनुभव किया था। आज फिर वही अनुभव उसके प्राणो को रुला रहा है।

डाक्टर हीरालाल

डाक्टर हीरालाल जी के दर्शनो का सौभाग्य मुझे एक ही बार प्राप्त हुआ और वह भी बहुत थोडी देर के लिए। परतु वह अनुभव भूलने का नही। दिसबर १६३० की बात है। 'शब्दसागर' के पूर्ण होने की खुशी में नागरी प्रचारिणी सभा कोषोत्सव मनाने जा रही थी। उसी मे सम्मिलित होने के लिए वे आये थे और बा० श्यामसुन्दरदास जी के यहाँ ठहरे हुए थे। वही मैंने उनके दर्शन किए थे। उनकी कीर्त्ति मैंने बहुत पहले से सुन रक्खी थी। पुरातत्त्व के क्षेत्र में उनके कार्य का बहुत आदर होता था। वे बहुत ऊँचे सरकारी पद पर भी रह चुके थे। परतु अहम्मन्यता और रूखापन उनको छू नही गया था। वे आदमी के हृदय में बैठ कर उसे अपने पास खींच लेते थे। मुझसे इस पहली ही मुलाकात में उन्होने वैसा ही व्यवहार किया, जैसा किसी मित्र के साथ किया जाता है। उनके व्यवहार में न बनावट थी, न बेरुखापन। मुझे उनका व्यक्तित्व सरलता, सहृदयता तथा उदारता के संयोग से निर्मित जान पड़ा।

इस थोड़ी सी देर की बात-चीत से मुझे पता लग गया कि उनको युवको पर भारी भरोसा है। युवकत्व उनके लिए अभिनव उत्साह, उद्दाम साहस और अनवरत अध्यवसाय का प्रतीक था। युवको मे आत्म-विश्वास, उत्साह, साहस और परिश्रम की ओर अभिरुचि भरना भी वे खूब जानते थे। वे स्वयं बडे परिश्रमी थे, आयु के उस भाग में भी जो सामान्यतया विश्राम के लिए प्रयोजित समझा जाता है, वे परिश्रम करते ही रहते थे, उन लोगो का सा कागजी-परिश्रम नहीं जो सरकारी पेंशन फटकारते हुए भी सैकड़ो रुपये मासिक बडे आराम से डकारते रहते है। नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-विभाग का निरीक्षण-कार्य बहुत परिश्रमसाध्य है। उसे वे कई वर्षों से कर रहे थे। परतु उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा नही रहता था। आँखे तो बहुत खराब हो गयी थीं। इसलिए वे इस काम से धीरे धीरे अवकाश-ग्रहण करना चाहते थे। मुझे उन्होने खोज-विभाग में लेने

की इच्छा प्रकट की। पर मुझे अपनी शक्ति पर भरोसा न था। अधिक परिश्रम से भी डरता था। परतु उनके उत्साह वर्धक शब्दो में कुछ ऐसी शक्ति थी कि मुझे कुछ काम कर लेना स्वीकार ही करना पडा, यद्यपि बहुत जल्द पिड छुडाने की अदरूनी इच्छा बनी ही हुई थी। इसके बाद उनका साक्षात् फिर कभी नही हुआ, किंतु उनकी चिट्ठियो मे उनके दर्शन कभी-कभी मिलते रहे।

कुछ समय बाद उन्होने मुझे दिल्ली-प्रात से हिन्दी हस्तलिखित ग्रथो की खोज के सबध मे रिपोर्ट लिखने को लिखा। उसके तैयार हो जाने पर उन्होने मुझे प्रोत्साहित करने के लिए सभा मे उसकी बड़ी तारीफ लिख भेजी और मुझे अपना सहकारी बना डाला। यद्यपि मुझे मालूम था कि मेरे एक मित्र ने, जो पहले उनके सहकारी बनाए गए थे, खोज के काम को कूडा बताकर खोज-यात्रियो के विवरण पत्रो को वापिस कर दिया था, फिर भी उनकी स्नेहपूर्ण आज्ञा का उल्लघन करने मे मैने अपने को असमर्थ पाया। मुझे यह भी डर था कि अपने उत्साह-दान को व्यर्थ गया समझकर वे दुखी न हो। समय के अभाव का तो तथ्य के बिना भी जब चाहो तब बहाना दिया जा सकता है, परतु साधार होने पर भी उनके सामने यह बहाना करने की मेरी हिम्मत न हुई।

उनको सन् १९३३ मे नागपुर विश्वविद्यालय ने डाक्टर आफ लेटर्स की आनरेरी डिगरी प्रदान की। उसी साल मैने काशी विश्वविद्यालय की डाक्टर आफ लेटर्स की परीक्षा पास की। इस सयोग पर उन्होने कुछ विनोद के ढग पर लिखा था—

"It is just in the fitness of things that both the Superintendent and the Asstt Superintendent of the Search Department should simultaneously become Doctors"‡

मुझपर उनका बडा स्नेह था। जबसे उन्होने सुना था कि मुझे डाक्टरी मिलना निश्चित हो गया है तबसे मुझको डाक्टर लिखने के लिए वे बहुत उत्सुक थे। जैसा बाद को उनके पत्र से मालूम हुआ, हमारे विश्वविद्यालय

---

‡—अर्थात्, यह उचित ही है कि खोज-विभाग के निरीक्षक और सहायक निरीक्षक दोनो एक साथ ही डाक्टर हो जाँय।

के उस साल के कनवोकेशन का विवरण उन्होंने अखबारो में बडे चाव से पढ़ा था, परतु उसमें उसका कोई उल्लेख न पाकर वे विस्मित हुए। कुछ दिन तक वे अख़बारो में मुझे डाक्टरी मिलने की ख़बर ढूँढ़ते रहे, परंतु जब फिर भी कही उसका उल्लेख न मिला तो उन्हें शंका हुई और उन्होने बाबू श्यामसुन्दरदास जी को एक व्यग्रता और उत्कंठापूर्ण पत्र लिखा। शका दूर हो जाने पर वे बड़े प्रसन्न हुए और एक लबा बधाई-पत्र लिख भेजा।

मेरे प्रति उनके स्नेह का बधन मुझे अब भी नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-विभाग के साथ बाँधे हुए है।

बाबू श्यामसुंदरदास की हिंदी-सेवा

बाबू श्यामसुदरदासजी का जीवन हिंदी के अपना पूर्ण स्वत्त्व प्राप्त करने के प्रयास की कहानी है। भारतेंदु हरिश्चद्र के हिंदीप्रेम की बिजली से व्याप्त काशी के वातावरण मे उनका बचपन बीता। रामचरित मानस से उनको बाल्यकाल ही में अनुराग हो गया। इट्रेंस पास करने के बाद वे कालेज के विद्यार्थी ही थे कि उन्होने कुछ अपने समवयस्क परमोत्साही युवको के सहयोग से काशी मे नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की, जो आज हिंदी की सबसे प्रमुख साहित्यिक सस्था है। नागरी लिपि के प्रचार और हिंदी में सत्साहित्य के उत्पादन के लिए नागरी प्रचारिणी सभा एक अपूर्व शक्ति है। परतु सभा ने जितने उपयोगी कार्य किये है उन सबमे बाबू श्यामसु दरदास का पूर्ण रूप से हाथ रहा है। बाबू साहब को सभा का मस्तिष्क समझना चाहिए। जन-साधारण की दृष्टि में तो बाबू श्यामसु दरदास नागरी प्रचारिणी सभा है और सभा बाबू श्यामसुंदरदास।

जिस आदोलन के फलस्वरूप पश्चिमोत्तर प्रदेश (अब सयुक्त* प्रात) की कचहरियों मे हिंदी को स्थान मिला उसमें बाबू श्यामसु दरदास ने अपनी पूर्ण शक्ति के साथ भाग लिया।

उस समय रोमन लिपि के भी बहुत लोग पक्षपाती हो गये थे और नागरी के विरुद्ध उनका बड़े जोरो में प्रचार हो रहा था। बाबू श्यामसु दरदास इस आदोलन के विरुद्ध भिड गये। इस सबध मे एक बडी मनोरजक घटना हुई थी। रोमन लिपि के पक्षपाती कहा करते थे कि नागरी लिपि शीघ्रता से नही लिखी जा सकती। इसी विषय को लेकर फ्रास के एक प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ श्री सिल्वेन लेवी से उनकी प्रतियोगिता हो गयी। इसका लेवी महोदय ने एक चिट्ठी में उल्लेख किया है।—"नवबर या दिसबर १८६७ में जब आपसे मेरी जान पहचान हुई थी उस सुखद समय को मै कभी नही भूलता—उस समय आप नेपाली खपडे में न रहते थे? नागरी और रोमन

---

*—अब उत्तर-प्रदेश —सम्पादक

में हम कितनी शीघ्रता से लिख सकते है, यह जाँचने के लिए हमारे बीच मे प्रतियोगिता भी हुई थी। आपने उतनी ही शीघ्रता से नागरी लिखी जितनी शीघ्रता से मैंने रोमन।"

हिंदी साहित्य सम्मेलन नागरी-प्रचार का आज सबसे शक्तिशाली केंद्र है। उसके भी जन्मदाता बाबू श्यामसुदरदास ही है। इस प्रकार बाबू श्यामसुदरदास को हिंदी की सघ-शक्ति का मूर्तरूप समझना चाहिए। परतु इतने ही म उनकी हिंदीसेवा समाप्त नही हो जाती। जितना महत्त्वशाली उनका सगठन और प्रचार कार्य है उतना ही महान् उनका साहित्य-निर्माण कार्य भी। साहित्य का हल्का या गभीर कोई ऐसा विभाग नही जिसे उनकी लेखनी ने सपन्नता न प्रदान की हो।

'सरस्वती' पत्रिका प्रधानतया उन्ही के सपादकत्व मे प्रादुर्भूत हुई और उन्ही ने दो तीन वर्ष उसे चलाकर यह सिद्ध किया कि ऐसी पत्रिका हिंदी में भी चल सकती है। फिर तो वह यशस्वी सपादक पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के सपादकत्व में खूब चमकी। नागरी प्रचारिणी पत्रिका ने भी जब से नया रूप धारण किया और वह शोध की पत्रिका बनी, तब से वह बराबर बहुत वर्षो तक कभी कुछ विद्वानो के सहयोग से और कभी अकेले उन्ही के द्वारा संपादित होती रही। यह उनके अविरत परिश्रम का फल है कि पत्रिका, जगत की दृष्टि मे सम्मान के योग्य सिद्ध हुई।

पजाब के पण्डित राधाकृष्ण ने जब सस्कृत-ग्रथो की खोज का कार्य आरभ किया तो हिंदी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज का भी प्रश्न उठा। बाबू श्यामसुदरदास ने बडे उत्साह से इस कार्य को अपने हाथ मे लिया। युक्तप्रात की सरकार को उन्होंने उसकी उपयोगिता बतलाई, जिससे उसने सभा को वार्षिक ग्राट देना स्वीकार किया जो अब २०००) की है। खोज की रिपोर्टों को प्रकाशित करने का भार भी सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। लगातार नौ वर्ष तक बाबू श्यामसुंदरदास खोज के निरीक्षक रहे। उनकी खोज-सबधी रिपोर्टें विद्वत्ता और सूक्ष्मदर्शिता से पूर्ण होती थीं। यहाँ तक कि ग्रियर्सन, पिशेल, थीबो सदृश उच्च कोटि के विदेशी विद्वानो ने उनकी मुक्तकठ से प्रशंसा की।

नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला में उन्होने कई प्राचीन काव्य-ग्रथो का बड़े परिश्रम से सपादन किया जिससे जगत् के समक्ष यह सिद्ध हुआ कि हिंदी का भी ऐसा प्राचीन साहित्य है जिसके आधार पर उच्च शिक्षा दी जा सकती है। पृथ्वीराज रासो का सपादन बडी महत्त्वपूर्ण सिद्धि थी जिसकी पूर्ति पडित

मोहनलाल विष्णुलाल पड्या के सहयोग से हुई। इनके अतिरिक्त बाबू साहब ने परमालरासो, कबीरग्रथावली, चित्रावली आदि महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रथो का सपादन किया।

बाबू श्यामसुदरदास का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता है हिंदी शब्दसागर का सपादन जिसको उन्होने अपने पाँच विद्वान् सहकारियो के सहयोग से बीस वर्ष की सतत साधना के द्वारा प्रस्तुत किया। यह कोश हिंदी के लिए गर्व की वस्तु है जिसको पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शब्द-कल्पद्रुम, शब्दस्तोम महानिधि और सेंट पिटर्सबर्ग से प्रकाशित बृहत् सस्कृत कोश के समकक्ष बताया है।

परंतु मेरी समझ में इससे भी वढकर उनकी महत्ता इसमें है कि उन्होने यह सिद्धि कर दिया कि केवल हिंदी साहित्य के ही आधार पर ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जा सकती है। वे हिंदी के सबसे बड़े आचार्य और अध्यापक हैं। अध्यापक तो वे पहले से भी थे, किंतु मालवीयजी ने हिंदी विभाग का सचालन करने के लिए जब उन्हे काशी विश्वविद्यालय में आमन्त्रित किया, तब उन्हे वह काम मिला जो उनके मन के अनुकूल था और जिसके लिए वे पूर्णतया उपयुक्त और सज्जित थे। काशी विश्वविद्यालय की अध्यापकी के द्वारा ही उन्होने हिंदी को सबसे बडा दान दिया। हिंदी के जीवन-तत्त्व, शक्ति और वैभव को उनके रूप मे मूर्तिमान् देखकर गौरव की भावना के साथ विद्यार्थी उनसे हिंदी भाषा और साहित्य की शिक्षा ग्रहण करते थे। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें विद्यार्थियो को दिए हुए व्यख्यानो के ही विकसित रूप है। हिंदी साहित्य का कोई ऐसा विभाग नहीं जिसके लिए उनके परिश्रम से दृढ नीव न उपस्थित हुई हो। सैद्धातिक और व्यावहारिक आलोचना, भाषाविज्ञान, भाषा और साहित्य का इतिहास आदि प्रायः सभी क्षेत्रो मे वे आदि आचार्य हुए। भाषा और साहित्य, भाषाविज्ञान, भाषारहस्य, साहित्यालोचन, रूपकरहस्य आदि ग्रथ इस बात के साक्षी है।

वे केवल ग्रथकार और अध्यापक ही नहीं, ग्रथकारो और अध्यापको के निर्माता भी है। कही उन्होने प्रतिभा की एक चिनगारी देखी कि उसे प्रकाशपुंज में परिणत करने का प्रयत्न किया। हिंदी के कितने ही लेखक और अध्यापक, जो उच्च कोटि के साहित्य का उत्पादन कर रहे है और उच्च शिक्षा का दान कर रहे है, उनके प्रति कृतज्ञता के भार से दबे हुए है।

हिंदी की सेवा मे अपने आपको खपाकर बार्धक्य में अब बाबू साहब

काशी में विश्राम ले रहे है। काशी विश्वविद्यालय और नागरी प्रचारिणी सभा से उन्होने अवकाश ग्रहण कर लिया है, फिर भी हिंदी की सेवा उनकी प्रकृति का एक अंग हो गयी है जो उन्हे बराबर हिदी की हितचिंतना में लगाये रहती है।

भगवान् उन्हे दीर्घायु प्रदान करे जिससे वे बहुत काल तक एक प्रेरणाकेंद्र के रूप में हिदी हितैषियो के बीच विद्यमान रह सकें।†

कालीचरण हाई स्कूल के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि बाबू श्यामसु दरदास कुछ समय तक उसके प्रधानाध्यापक रहे और उसको सुदृढ भित्ति पर रखने का श्रेय उनको भी है। यह भी कम सतोष की बात नही कि उनके बाद कालीचरण हाई स्कूल की बागडोर जिनके हाथ मे गयी है वे बाबू कालिदास कपूर भी हिदी के अत्यत प्रेमी है और हिंदी का गौरव बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया करते है।

---

†—यह लेख बाबू श्यामसुन्दर दास के जीवन काल मे कालीचरण हाईस्कूल, लखनऊ की रजतजयन्ती के अवसर पर लिखा गया था।

—संपादक।

गढ़वाली भाषा के "पखाणा" (कहावतें)

किसी भी भाषा की कहावतें उस भाषा तथा उसके भाषियो की अमूल्य निधि है, क्योकि समस्त जाति के व्यावहारिक अनुभवो का सार खिचकर कहावतो मे आ जाता है। जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नही जो भाषा के मदिर मे लोकोक्तियो की भेंट न चढा जाता हो। जीवन-व्यापार से सबध रखनेवाले विशेष कौशलो से सबकी जानकारी नही हो सकती। परतु जीवन-व्यापार के प्रत्येक विभाग मे विशेष कौशलो से भिन्न बहुत से ऐसे अनुभव भी प्राप्त होते रहते है जो सर्वसाधारण की मानसिक सत्ता के अग होकर उसकी सपन्नता को बढा सकते है। ये ही अनुभव कहावतो का रूप धारण करते है।

लोकानुभव प्राय: घटना-मूलक होता है। कोई घटना घटित होती है और हमें अनुभव दे जाती है। हम देख पाएँ, चाहे न देख पाएँ, मानव जाति के प्रत्येक अनुभव के पीछे कोई घटना अवश्य छिपी होती है। इसलिये प्रत्येक कहावत के पीछे भी एक छोटी-मोटी कहानी छिपी रहती है, जिसका वह सकेत देती है। यही कारण है कि कहावत को गढवाली भाषा मे 'अखाणो*' या 'पखाणो*' (—एकवचन, ब० व०—'अखाणा', 'पखाणा') कहते है। अखाणो आख्यान से बना है और पखाणो उपाख्यान से।

परतु घटना-मूलक होने पर भी कहावत 'कहावत' है। हर घडी की बात-चीत मे अथवा साहित्यिक रचनाओ मे पद पद पर सारी कहानी बार बार नही दुहराई जा सकती। हाँ कहावत के द्वारा उसका सकेत दे दिया जा सकता है। इसी से गढ़वाली भाषा में कहावत-को 'आणो*' (एकवचन, ब० व०—'आणा') तथा सस्कृत में आभाणक कहते है। आणो और आभाणक एक ही है। आभाणक ही आणो हो गया है। (आभाणक, आहाणअ,

---

*—गढवाली भाषा अधिकतर 'ओ कार'-बहुला है। इस सबध मे ब्रज भाषा से उसका मेल है। यह ओ-कार-बहुलता उसे राजस्थानी से दान मे मिली है। —लेखक

आग्राणग्र, ग्राणा+ग्रो, ग्राणो ।) इसमें मूल धातु भण् है जिसका अर्थ होता है 'कहना' ।

परतु यह कहना होना चाहिए चतुराई भरा हुग्रा । ग्रनुभव तो बहुत ग्रादमियों को हो सकता है परतु उसे कहावत बनाता है किसी एक वाक्यपटु का चतुराईभरा कहना (उक्ति-चातुर्य) ही । लार्ड रसेल ने इसी ग्रर्थ मे कहावत को 'बहुतों की बुद्धिमानी ग्रौर एक की चतुराई' ('दि विजडम ग्रॉव मैनी ऐंड दि विट् ग्रॉव् वन्') कहा था । सबकी सपत्ति बनने योग्य कोई लोकानुभव ग्रथवा लौकिक सत्य जब किसी एक व्यक्ति की चतुरता से सबको ग्राकर्षित कर सकनेवाला रूप प्राप्त कर लेता है, तब कहावत का जन्म होता है । बिना चटपटेपन के कहावत कहावत नही । उक्ति की चतुराई ही कहावत को चटपटी बनाती है । कहावत का एक बार जन्म हो जाने पर चटपटापन ही उसे चलता बनाए रखना है । सुननेवाले उचित ग्रवसर ग्राने पर उसे फिर फिर व्यवहार करने की इच्छा करते है ग्रौर कहावत चल पडती है । नई नई कहावते बराबर पैदा होती रहती है ।

जन्म हो जाने पर भी कहावत का नामकरण तब तक नही हो सकता जब तक वह चल नही पडती । किसी उक्ति मे ग्रनुभव भरा है, वह चटपटी भी है, परंतु हो सकता है कि वह लोगों की ग्रॉखो मे न ग्राई, ग्रथवा कानो मे न पडी हो, ग्रौर इस कारण उसका प्रचार न हुग्रा हो । ऐसी दशा मे वह कहावत न कहायेगी क्योकि कहावत उक्तिमात्र नही है, लोक की उक्ति है, इसीसे उसे 'लोकोक्ति' कहते है । कहावत एक ग्रादमी के कहने से नही होती, लोक के स्वीकार करने से, लोक मे प्रचार पाने से होती है । जब तक लोग उसे प्राय. बोलने नहीं लगते तब तक वह कहावत लोकोक्ति ग्रथवा प्रायोवाद नही कही जा सकती । सस्कृत के 'प्रायोवाद'† का जो ग्रभिप्राय है वही ग्रँगरेजी के 'प्रौ-वर्ब'‡ का ।

इसके ग्रतिरिक्त कहावत स्वभावतया छोटी होती है । इससे उसको लोगो की जबान पर चढ़ने में ग्रासानी होती है । भारी भरकम वाक्यो को याद रखना कठिन होता है इसीसे छोटी छोटी उक्तियाँ ही कहावतो का स्थान प्राप्त कर सकती है । चटपटेपन के योग मे कहावत का छोटापन

†—सस्कृत मे प्रवाद भी इस ग्रर्थ मे प्रयुक्त होता है, किंतु हिंदी मे वह दूसरे ग्रर्थ मे रूढ हो गया है ।

‡—Pro-verb.

। लाघव उसके सारे प्रभाव को एकमुख कर उसे नुकीला बना देता है, वह चुभनेवाली हो जाती है। समझाने के ढङ्ग में बातो का विस्तार होता है, उसमे प्रभाव भी फैलकर निर्बल पड जाता है। इसलिए उसमे की बाते बहुधा चिकने घडे पर पडती है। बडी बडी बातो को सुनने-पढने के लिये आदमी सचेत होकर जाता है। यह सचेतनता भी उनके प्रभाव में बाधक होती है। परतु कहावत अचानक अप्रत्याशित रूप से आती है और अपना काम कर जाती है। व्याख्यान और उपदेशो को रमणीयता तथा उनके प्रभाव को भी कहावत बढा देती है।

उक्ति का एक रमणीय स्वरूप दूसरा भी है जिसे सूक्ति अथवा सुभाषित कहते है। लोकोक्ति को समझने के लिए सूक्ति से उसका भेद समझना आवश्यक है। सूक्ति चमत्कार-भरी उक्ति को कहते है। सूक्तियाँ अधिकतर पद्य में ढूँढी जाती है। इसका कारण यही है कि हमारा प्राचीन साहित्य प्रायः पद्य में ही है। परतु पद्यमय होना सूक्ति का आवश्यक गुण नही है। गद्य में भी सूक्तियाँ हो सकती है और होती है। सूक्ति में गद्य और पद्य का भेद नही मानना चाहिए। सूक्ति का चमत्कार-भरा होना ही काफी है। इससे आगे बढकर उसमें लोकानुभव भी हो सकता है, परतु उसका होना आवश्यक नही। जिन सूक्तियो में चमत्कार के साथ साथ लोकानुभव भी रहता है, वे कहावत बन सकती है। कवियो तथा लेखको की कई लोकानुभवमयी सूक्तियाँ कहावत हो जाती है। मेघदूत के कई श्लोकों के अतिम चरण कहावतो की भाँति काम आते है। किंतु प्रत्येक सूक्ति कहावत नही कही जा सकती।

सक्षेप में, कहावत छोटी, अर्थभरी, चटपटी और सर्व प्रिय होती है। इसी बात को अँगरेजी मे अपने चुटीले ढग से कहते हुए हावेल ने कहा है कि, कहावत की विशेषताएँ है 'छोटापन, अर्थ और नमक' ('लाघव, सार्थकता और लावण्य'— शार्ट्नेस्, सेंस्, ऐंड् साल्ट्')❀। इन्ही गुणो के कारण वह सर्वप्रिय भी होती है।

सालनो में जो काम मसाले का होता है, साहित्य में वही काम कहावत का है। गढवाली मुहावरे का प्रयोग करें तो कह सकते है कि कहावत बात-चीत तथा साहित्य का 'तुड़का' (तडका) है जो बहुत थोडे परिणाम म प्रयुक्त होने पर भी व्यजनो को विशेष रुचिकर बना देता है।

❀—'Shortness, sense and salt.'

साहित्य के उत्कर्ष के लिए उसके चटपटेपन को बढानेवाली इस सामग्री के सग्रह का महत्व स्पष्ट है। सुभाषित और कहावत मे कुछ अतर होने पर भी सुभाषित के सम्बन्ध मे निम्नलिखित श्लोक मे जो कुछ कहा गया है, वह कहावत के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ सत्य है—

> खिन्नं चापि सुभाषितेन रमते स्वीयं मन सर्वदा
> श्रुत्वान्यस्य सुभाषितं खलु मन श्रोतु पुनर्वाञ्छति ।।
> अज्ञाञ्ज्ञानवतोऽप्यनेन हि वशीकर्तु समर्थो भवेत्
> कर्तव्यो हि सुभाषितस्य मनुजैरावश्यक सग्रह ।।

गढवाली भाषा की कहावतो का सग्रह एक दूसरी दृष्टि से भी आवश्यक है। गढवाली अबाध गति से बदल रही है। यदि परिवर्तन की यही द्रुत गति रही तो एक दिन ऐसा आवेगा जब केवल ढाँचा भर गढवाली रह जायगा और रूप सब तत्सम (संस्कृत) के आ जायेगे। अतएव गढवाली की ही रक्षा की दृष्टि से नही, बल्कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि गढ़वाली का शुद्ध रूप क्या था, अथवा क्या है, यह जानने का कुछ साधन उपलब्ध हो। यद्यपि भाषा सदा परिवर्तनशील है फिर भी बहुत प्राचीन काल से चली आती होने के कारण कहावतो पर बहुधा पुरानापन भी चिपका चला आता है। श्रीयुक्त प० शालग्राम वैष्णवजी ने इस प्रकार का एक सग्रह किया है, जिसमे गढवाल के जिस भाग में जिस कहावत को उन्होने सुना है उसे उसी भाग की बोली मे बिना हेर-फेर के दे दिया है। इससे गढवाली के भेदो को समझने मे भी उसके द्वारा कुछ सहायता मिल सकती है।

हिंदी की प्रत्येक विभाषा की सौंदर्य-सामग्री का प्रदर्शन इसलिए भी आवश्यक है कि कदाचित् उसमे से हिंदी को अपनी सपन्नता बढाने के लिए कुछ ग्रहणीय सामग्री मिल जाय। जब हम विदेशी भाषाओ से भी सामग्री ग्रहण करना अच्छा समझते है, तब स्वय हिंदी की विभाषाओ से सामग्री लेने मे हिचक ही क्या हो सकती है?

इस प्रकार की सामग्री का सग्रह इस बात को समझने मे तो स्पष्ट ही सहायक होता है कि बहुत प्राचीन काल से सारा देश एक कोने से दूसरे कोने तक एक ही सस्कृति से अनुप्राणित रहा है।

कीर्तिलता की भाषा

कीर्तिलता की भाषा के सम्बन्ध में विद्यापति ने कहा है—

सक्कय वाणी बुहग्रन भावइ। पाउग्र रस को मम्म न पावइ ।।
देसिल वग्रना सब जन मिट्ठा। ते तैसन जपग्रो ग्रवहट्ठा ।।

जिस समय विद्यापति लिख रहे थे उस समय प्राकृत ही क्या ग्रपभ्रंश का जमाना भी बीत चुका था। प्राकृत का तो कोई मर्म पा न सकता था। ग्रवहट्ठ भी वही मीठा लगता था जो देसिल वग्रना भी हो। प्राकृत की इस ग्रोर की सीमा सातवीं शताब्दी है। सातवीं ग्राठवी शताब्दी में ग्रपभ्रंश ने जोर पकडा। ग्रौर नवीं शताब्दी में हिंदी की भाषाएँ विकसित हुईं, दसवीं में उनके साहित्य में भी दर्शन होने लगे। विद्यापति के समय तक उनका काफी विकास हो चुका था। स्वयं विद्यापति की पदावली उस समय की हिंदी के मैथिली स्वरूप का मधुर रूप सामने लाती है। विद्यापति की पदावली की भाषा उनके प्रात की उस समय की देसिल वग्रना—देश भाषा है, इसमें कोई सदेह नहीं। कीर्तिलता में भी देसिल वग्रना का ही उपयोग किया गया है परंतु दोनो के देसिल वग्रना में भेद है। पदावली विद्यापति के भावो का स्वाभाविक उद्‌गार है, इसलिए उसमें भाषा की कृत्रिमता की भी ग्रावश्यकता नहीं। परतु कीर्तिलता कीर्ति की लता है, एक राजा की कीर्ति के वर्णन में लिखी गई है, वह स्वाभाविक कवि की रचना नहीं है, दरबारी कवि की रचना है। दरबारी कवि भी दरबारी कवायद की उपेक्षा नहीं कर सकता, साहित्यिक कवायद की उपेक्षा कैसे करेगा? काव्य का दरबार के उपयुक्त गाभीर्य प्रदान करने के उद्देश्य से, साहित्यिक भाषा से उसका एकाएक सम्बन्ध विच्छेद न करना कीर्तिलता में ग्रावश्यक समझा गया है। वह देसिल वग्रना में है सही पर ऐसी देसिल वग्रना में जिसमें ग्रवहट्ठ का सहारा लिया गया है। जैसा विद्यापति ने ऊपर कहा है।

जिस प्रकार ग्राजकल के साहित्यिक, भाषा को माधुर्य के साथ गांभीर्य

देने के अभिप्राय से हिंदी में संस्कृत पदावली ग्रहण करते है उसी प्रकार अपभ्रश वाले प्राकृत की तथा देसिल वअना वाले अपभ्रश प्राकृत की शब्दावली ग्रहण करते थे। कीर्तिलता मे यह बात बहुत स्पष्ट है। यही कारण है कि आरभ में बहुत दूर तक और अन्यत्र भी कीर्तिलता प्राकृत का सा ग्रथ मालूम होता है।

बालचंद विज्जावइ भासा, दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई णिच्चय नाअर मन मोहइ॥

इस दृष्टि से प्राकृत, अपभ्रश, देसिल बअना सब कुछ हो सकता है। लग्गइ, सोहइ, मोहइ, से भाषा का निश्चय हो सकता है और उनका इन तीनो में व्यवहार हो सकता है। कुछ पद्य कीर्तिलता में ऐसे भी है जो शुद्ध प्राकृत में है, यथा—

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्ममत्तेन
जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुजिओ धूमो
सो पुरिसओ जस्स मानो सो पुरिसओ जस्स अज्जने रत्ति
इअरो पुरिसाआरो पुच्छविहूना पसू होइ

यह शौरसेनी प्राकृत का शुद्ध नमूना है। परतु इसके आधार पर हम कीर्तिलता को प्राकृत का ग्रथ नहीं कह सकते, क्योकि यह किसी दूसरे ग्रथ का अवतरण मालूम पडता है जो जदौ (यथा) से स्पष्ट है। अतएव कीर्तिलता की भाषा न शुद्ध प्राकृत है, न शुद्ध अपभ्रश और न शुद्ध देशी भाषा। उसमें भाषा की स्थिरता नहीं देखी जाती। परतु इस भाषा की इस अस्थिरता का कारण देसिल बअना नहीं है। यह बात ठीक है कि देशी भाषा उस समय व्याकरण के शिकजे में नहीं जकडी गई थी परतु इसके माने यह नहीं कि देशी भाषा में प्रयोगो की एकरूपता का सर्वथा अभाव रहता है। विद्यापति की पदावली की भाषा व्याकरण के नियमो में जकडी न होने पर भी व्यवस्थित है। कीर्तिलता की भाषा की अव्यवस्था उसके खिचडी होने का परिणाम है। व्याकरण के सजग ढाँचे का सहारा न होने के कारण प्राकृत और अपभ्रश के भार के नीचे उस देशभाषा को दब जाना पडा है। उसमे प्राकृत अपभ्रश के शब्द ही नही मिलते, क्रियापदो के रूप तक मिलते है।

विद्यापति मिथिला निवासी थे। उनकी पदावली स्वभावत मैथिली में है। अतएव पहले पहल यह विचार होना भी स्वभाविक ही है कि कीर्तिलता भी मैथिली में होगी। यदि विद्यापति ने कीर्तिलता देसिल बअना में लिखी होती तो अवश्य ही उसकी भाषा पदावली की तरह मैथिली होती परन्तु

साहित्यिक भाषा का अधिक आश्रय लेने के कारण ऐसा न हो सका। यद्यपि बौद्ध वैयाकरणो ने मागधी प्राकृत की प्रशंसा करते हुए व्याकरण और पुराण को एक कर दिया है तथापि साहित्य मे मागधी को कभी प्राधान्य न मिला। नाटको मे मागधी का प्रयोग कही मिलता भी है तो मछुए और धीवरो के मुख में। 'धीवराद्यति नीचेषु मागधी विनियुज्यते' 'और' अन्त्येचाडाण्लकादीना मागध्यादि प्रयुज्यते'। आचार्यों की व्यवस्था इस सम्बन्ध मे स्पष्ट है। यह केवल इसलिए नही कहा जान पडता है कि मगध देश बौद्ध धर्मावलबी हो गया था बल्कि इसमे कुछ तथ्य भी मालूम पडता है। मौद्गलायन आदि के 'सा मागधी मूल भासा नरा ययाध्किकधिका, ब्राह्मणा स्सुतालाया संबुद्धाचापि भासरे' कहने पर भी मूल मागधी के जो छ शब्द बौद्ध परपराओ से हमे मिले है उनका आर्यभाषाओ से कुछ भी सम्बन्ध नही जान पडता। पाली भी जो बौद्ध मागधी मानी जाती है, उससे सबद्ध नही मालूम होती। बौद्ध दतकथाओ के अनुसार मनुष्य के बाद छः जतुओ की सष्टि हुई जिनके मागधी मूल और पाली तथा सस्कृत पर्याय नीचे दिये जाते है—

मो सस, शश। सन सुपव सुप्लव। रो कुक्कुटी कुक्कुट।
अस्य, अख। सच सुनक श्वन। यी व्याग्धी व्याघ्र।

जिस मागधी से पाली का जन्म हुआ वह इस भाषा से सर्वथा भिन्न जान पडती है। इस मूल मागधी के क्षेत्र मे बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन लेकर सस्कृत और महाराष्ट्री ने प्रवेश पाकर जब कुछ परिवर्तन सहन किया तब पाली का जन्म हुआ। मागधी का जो रूप नाटको से हमे प्राप्त होता है वह महाराष्ट्री अथवा शौरसेनी से बहुत अधिक भिन्न नही है। अतएव विद्यापति ने अपने जिस साहित्यिक अवहट्ठ का कीर्तिलता मे सहारा लिया उसमें शौरसेनी से उद्भूत नागर अपभ्रंश की समानता मिलना अस्वाभाविक नही।

'ब्रजभाषा' और 'रसकलस'

हमारे सांस्कृतिक जीवन में ब्रजभाषा का स्थान बडा महत्वपूर्ण है । उसे उत्तरभारत का सांस्कृतिक माध्यम समझना चाहिए। वह हमारी भक्ति-भावना की विभूति की अनुपम निधि और साहित्य-सुषमा की अभिनव चित्र-शाला है। सूरदास और भक्त कवियों ने अपने उद्गारो की अमृत-वर्षा से इस मधु-मधुर वाणी को सिंचित किया और बिहारी आदि कलाकारो ने अपने जगमगाते रत्नो से अलकृत । वैष्णव आन्दोलन की कृपा से मध्ययुग में ही वह ब्रजभूमि की सीमा को लाँघ कर भारत-व्यापिनी हो गई थी । सहृदय भक्त मात्र, बिना किसी प्रान्तभेद के, तब तक अपनी वाणी की सार्थकता नही मानते थे, जब तक कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा मे ही भगवान् के सम्मुख आत्मनिवेदन न कर लेते थे। नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, नरसीमेहता, चडी-दास आदि सब मराठी, गुजराती, बगाली वैष्णव सतो ने बजभाषा मे अपने हृदय के उद्गारो को प्रकट किया है। बगाली भक्त समुदाय ने तो अपनी अलग ही "ब्रजबूली" बना डाली जो कृत्रिम होने पर भी ब्रजभाषा के अखिल भारतीय महत्त्व को भलीभाँति प्रकट करती है ।

साहित्य के क्षेत्र मे ही नही सगीत और कला के क्षेत्र मे भी बहुत काल से ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा है । सगीत की जितनी पक्की चीजे होगी प्राय सब ब्रजभाषा की मिलेगी । कला का आदर्श भी बहुत काल तक ब्रज-भाषा काव्य ही के अनुरूप निर्मित होता रहा। जो शृगार रसान्तर्गत नायिका भेद की बारीकियो को नही जानता वह मध्ययुग की हिन्दू चित्रकारी को भी नही समझ सकता। अतएव साहित्य, सगीत और कला जो सस्कृत जीवन के आवश्यक उपादान है, ब्रजभाषा से घनिष्ट सम्बन्ध रखते है। उनसे अभिज्ञता प्राप्त करने के लिए ब्रजभाषा का ज्ञान आवश्यक है। उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने से 'साक्षात्पशु पुच्छ विषाण हीन' हो जाने की आशका का आ उपस्थित होना सभव है।

आज यही आशका हमारे सम्मुख उपस्थित है। खड़ी बोली की बाढ के

कारण ब्रजभाषा का साहित्यिक क्षेत्र मे टिका रहना कठिन हो रहा है। ब्रजभाषा के प्राधान्य पर पहला आघात 'रामचरितमानम' के सहारे अवधी ने किया था। 'रामचरितमानस' का जो प्रचार हुआ, वह कृष्ण-सम्बन्धी किसी भी ब्रजभाषा ग्रथ के भाग्य में न बदा था। साहित्य का वह मुकुट-मणि माना गया। ब्रजभाषा में एक सुन्दर प्रबन्ध काव्य के अभाव का उसने खटकनेवाला दर्शन कराया, जिसकी पूर्ति का प्रयत्न आज तक होता चला आ रहा है। परन्तु इतना होने पर भी ब्रजभाषा के प्राधान्य में कोई कमी न आई। रामचरितमानस के अतिरिक्त अवधी के अन्य प्रबन्ध काव्य—अवधी में प्रबन्ध काव्यो की कमी नही है—बेठनो में बँधे रह गये। उनमे से अच्छे से अच्छे के प्रचार के लिए उसी सामर्थ्य की आवश्यकता पड रही है जो ब्रजभाषा मे उनके अभाव की पूर्ति करने में सफल हो सकी है।

परन्तु खडी बोली और अवधी को एक ही बात नही। अवधी केवल एक प्रातिक भाषा थी। रामभक्ति का साहचर्य भी उसे वह स्थान न दिला सका जिससे वह ब्रजभाषा के साथ कुछ भी सफल स्पर्धा कर सकती। परन्तु मध्ययुग ही से राजनीतिक परिस्थितियाँ खडी बोली के प्रचार में लगी हुई है। उसने देश के विभिन्न प्राती में शात किन्तु अबाध प्रवेश पा लिया। साहित्य में प्रवेश करने के पहिले ही वह हिन्दी भाषियो ही की नहीं एक प्रकार से समस्त भारत की आदान-प्रदान की सामान्य भाषा हो गई थी यद्यपि प्रकट रूप से इस बात की अनुभूति किसी को न हुई। आज हिन्दी का राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जाना इसी अप्रकट तथ्य की प्रकट स्वीकृति है। साहित्यिक क्षेत्र में भी इसी कारण उसने ब्रजभाषा को प्रमुख स्थान से आसानी से च्युत कर दिया है। आज ब्रजभाषा नही, खडी बोली हिंदी का साहित्यिक माध्यम है। और कोई भी ब्रजभाषा प्रेमी इस बात से दुखी न होगा और न इस बात का प्रयत्न करेगा कि खडी बोली को च्युत कर ब्रज-भाषा को फिर से प्राधान्य दिया जाय। उस स्थान को प्राप्त कर सकने की आशा ब्रजभाषा को स्वप्न मे नहीं हो सकती। इस समय आशका इस बात की नहीं है कि ब्रजभाषा खड़ी बोली पर आघात कर सकेगी बल्कि इसकी कि अपने अधिकार के मद में खडी बोली ब्रजभाषा को जीवित साहित्य के क्षेत्र से सर्वथा ढकेल बाहर न कर दे, यद्यपि जीवित भाषा तो वह तब तक बनी रहेगी जब तक ब्रजभूमि में ब्रजभाषी निवास करेंगे। यदि खडी बोली के क्षेत्र को इस बात की आकाक्षा हो कि ब्रजभाषा अथवा हिंदी की अन्य किसी उपभाषा में भी साहित्य का निर्माण ही न हो—तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य

की बात ही क्या हो सकती है ? वैसे भी समय की आवश्यकता यह है कि हिंदी की समस्त उपभाषाएँ अपने पूर्ण सौंदर्य और सामर्थ्य का प्रदर्शन करें जिससे खड़ी बोली उनसे अपने सौंदर्य और सामर्थ्य की वृद्धि के लिए सामग्री-चयन कर सके. अँगरेजी आदि विदेशी भाषाओ से भी इस प्रकार के सामग्री-चयन का विरोध नहीं किया जाना चाहिए परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिंदी ही की उपभाषाओं से खड़ी बोली जो कुछ ग्रहण करेगी वह उसके लिए अधिक स्वभावानुकूल और सौंदर्यवृद्धिकर होगा और फिर ब्रज में तो साहित्य, सगीत और कला तीनो का समृद्ध सयोग है। इसीसे कहना पड़ता है कि बड़े-बड़े शक्तिशाली विद्वानों का अपने को ब्रजभाषा-विरोधी कहना ब्रजभाषा के लिए ही नही, खडी बोली और खडी बोली बोलनेवालो के लिए भी आने-वाली एक अहितकर परिस्थिति की ओर सकेत करता है।

खडी बोली नये आदर्शों को सामने रख नये विषयो पर नये ढग के साहित्य का निर्माण कर रही है। वह अतीत के गाने गाते हुए भी साहित्यिक निकट अतीत से बिलकुल सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहती है । आधुनिक काव्य की दुर्बोधता का यही एकमात्र कारण है। उसमें भाव और शैली दोनो सौंदर्यमयी है, परन्तु वही उसका रस-पान कर सकते है, जो अँगरेजी आदि के साहित्यामृत का स्वाद चख चुके हैं। परन्तु जिनमे केवल अपनापन है, उनके लिए वह निरर्थक रोना-धोना मात्र है और इसीलिए चिढानेवाला भी । आधु-निक हिंदी के प्रधान विधायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी यह नहीं चाहते थे कि साहित्यिक वर्तमान का साहित्यिक अतीत से इस प्रकार सहसा सम्बन्ध विच्छेद हो जाय। इसीलिए उन्होने खडी बोली के गद्य के गहने में ब्रजभाषा के पद्य से मीने का काम लिया है। खडी बोली के आदि कवि प० श्रीधर पाठक ने भी सजीव ब्रजभाषा में काव्य रचा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने, जिनमें समर्थ समालोचक और भावुक कवि का अलभ्य समन्वय हुआ है, बुद्ध-चरित की रचना-द्वारा ब्रजभाषा के एक अभाव की पूर्ति की है और ब्रजभाषा के भव्य तथा सग्राहक स्वरूप का दर्शन कराया है।

परन्तु ब्रजभाषा का साहित्य भी अगर प्राचीन परपराओ से ही बँधा रहा तो जीवित होते हुए भी वह मृतक ही रहेगा । समय-समय की अलग-अलग भावनाएँ होती है जो जाति के जीवन को आकृष्ट तथा उद्वेलित करती है। इस-लिए वर्तमान को भूलकर केवल अतीत का सपना देखना रुचिकर नही हो सकता। परंपराओ से एकाएक सम्बन्ध-विच्छेद कर देना तो कल्याणकर नहीं ही होता। हमारे लिए कल्याण का मार्ग है अतीत के अनुरूप वर्तमान

की प्रगति। अतीत के साथ सम्बन्ध रखते हुए वर्तमान के साथ आगे बढना। अँगरेजी मुहावरे मे, पुरानी बोतल मे नई शराब भरना। इस काम को कवि सम्राट् प० अयोध्यासिह उपाध्याय ने सम्पन्न किया है। वे इस काम के लिए प्रवृत्ति से ही पूर्ण रूप से उपयुक्त भी है। वे प्राचीनता के उपासक और नवीनता के स्नेही है। प्राचीन साहित्य का उनका अध्ययन विस्तृत एव गहन है; प्राचीन सस्कृति उनको नस-नस मे भरी है। नवीन प्रगतियो को अपने आदर्शो के अनुकूल बनाकर स्वायत्त करने के लिए उनका दिल उछलता है। प्रियप्रवास मे उन्होने प्राचीन राधा और कृष्ण को वह रूप दे दिया है जिसे सन् १९१४ के भारतीय किसी भी आदर्श नेता मे देखना चाहते। इसमे सभवत भक्तवृन्द शायद कृष्ण के धार्मिक महत्व की उपेक्षा देखे, परन्तु समाज-सेवा मे अग्रसर होनेवाले कर्मवीरो के लिए तो उसमे एक उच्चादर्श की प्रतिष्ठा हो गई।

प्राचीनता मे नवीनता लाने का ऐसा ही प्रयत्न उपाध्याय जी ने ब्रजभाषा के क्षेत्र मे भी किया है। ब्रजभाषा साहित्य की विशेषता शृगारी-काव्य है और उसमे भी नायिकाभेद। रतिभाव प्राणिमात्र मे जितना व्याप्त है उतना शायद ही और कोई भाव हो। सृष्टि के समान ही पुरातन होने पर भी शृंगार नित्य नूतन रहता है। शृगार की निन्दा करनेवाले भी उससे बच सके है, इस बात का वे सत्यता के साथ दावा नही कर सकते। 'रसकलस' मे ब्रजभाषा की इसी विशेषता मे उपाध्याय जी ने कालानुरूप नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। समय के अनुकूल आकर्षक गुण भी बदलते जाते है। अब केवल रूपमात्र आकर्षण का काम नही करता है। भारत की वर्तमान परिस्थिति मे युवक-समाज जाति तथा देश के उपकारक गुणो की ओर भी आकृष्ट होने लगे है। तदनुरूप उपाध्याय जी की नायिकाओ मे भी हम देश-प्रेमिका धर्म-प्रेमिका जाति-प्रेमिका आदि उत्तमा नायिकाओ के भेद पाते है। वास्तविक जीवन की इन आदर्श नायिकाओ की ओर पहले पहल उपाध्याय जी की ही मार्मिक दृष्टि गयी है। साहित्य के क्षेत्र मे इन्हे स्थान देकर उपाध्याय जी ने साहित्य की अवास्तविकता को हटाकर उसमें जीवन की आदर्श तथ्यता की प्राण-प्रतिष्ठा की है। केवल शृगार ही नही और रसो का भी उपाध्याय जी ने विस्तृत वर्णन किया है और जहाँ तक हो सका है उनमे देशोपकारक भावो को भरने का प्रयत्न किया है। हास्यरस के सम्बन्ध में आपने देश मे प्रचलित कुरीतियो और युवको के उच्छृङ्खल आचार-विचारो के सम्बन्ध मे खूब फबतियाँ कसी है। इस प्रकार उपाध्याय जी ने ब्रजभाषा को वह सामग्री प्रदान

की है जिससे वह वर्तमान में ग्रहीत होने योग्य हो जाय जिससे पुरानी बात कहकर लोग उसे केवल स्मरण करने की चीज न समझें बल्कि उसका अनुशीलन भी करें

यही उपाध्याय जी के रसकलस की विशेषता है। परन्तु यह विशेषता कुछ भी उपयोगी न होती यदि उसके साथ सरस काव्य और साधु भाषा का सयोग न होता। इस सयोग ने उनके इस ग्रथ का महत्व और भी बढा दिया है। उपाध्याय जी का हिन्दी की विभिन्न बोलियो और शैलियो पर जो अधिकार है उसका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रामीण उच्चारण युक्त ठेठ हिन्दी, साधारण बोलचाल, साधु साहित्यिक खड़ी बोली, उसी का सस्कृत-सपृक्त स्वरूप, अवधी, ब्रजभाषा सब उनके संकेत पर नाचती सी दीखती है। किसी भी प्रकार की शैली अथवा बोली मे लिखने के लिए उन्हे अपनी शक्तियो का विशेष प्रयत्नपूर्वक आवाहन नही करना पडता। उनके देवबाला और अधखिलाफूल; चुभते चौपदे, चोखे चौपदे और बोलचाल तथा प्रियप्रवास इस बात के साक्षी है। परन्तु, ब्रजभाषा उनके हाथ पर विशेष रूप से खिलती है। उसके प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग जान पड़ता है। खडी बोली आदि की तरफ तो वे शायद समय का झुकाव देख कर झुके थे। जैसे जलमुर्गी स्वभावतः जल में तैरने लगती है वैसे ही उपाध्याय जी भी स्वभावत. ब्रजभाषा में काव्य करने लगे थे। उनकी आरभिक रचनाएँ ब्रजभाषा मे ही है और बहुत सुन्दर साहित्यिक टकसाली भाषा मे। इसलिए कोई आश्चर्य नही कि 'रसकलस' में ब्रजभाषा का अत्यत भव्य रूप देखने को मिलता है।

इसमें भी सदेह नही कि रसकलस लक्षण ग्रथ है। उसमे जो परिभाषाएँ तथा लक्षण लिखे गये है उनका अत्यन्त परिश्रम और सावधानी से सग्रह किया गया है। परन्तु मेरी आँखो में उसका मूल्य लक्षण ग्रथ होने मे नही है, बल्कि काव्य ग्रथ होने में। लक्षणो का महत्व तो केवल प्रसंग की सूचना दे देने भर में है। उपाध्याय जी के कवि-हृदय ने मानव हृदय को विभिन्न परिस्थितियो में देखा है। उनकी वाणी में हम मनुष्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओ का अनूठा और सहृदयतापूर्ण मनोरम चित्रण पाते है। उनके काव्य का अन्तरग और बहिरंग दोनो उत्कृष्ट और हृदयग्राही है। उनकी नायिकाएँ परम्पराभुक्त होने पर भी अकृत्रिम और सजीव है। प्राचीनकाल के किसी कवि के साथ उनकी तुलना करके उनका महत्व नहीं प्रकट किया जा सकता। ऐसा करना उनकी उस विशेषता को भूल जाना है जो प्रगतिशील जीवन को कभी दृष्टि से ओझल नही होने देती। उनका अपना अलग स्थान है। उनमें बिहारी की

समाहार शक्ति, घनानन्द की स्वाभाविकता, मतिराम का लालित्य, रहीम का बाँकपन और रसखान की भाव-प्रवणता सब एक साथ विद्यमान हैं। परन्तु इन सबके ऊपर उनकी अपनी हरिऔधी छाप है। छलकता हुआ यह 'रसकलस' हमारे साहित्यिक मंगल का सूचक है, साहित्य-मन्दिर के शिखर पर स्थान पाने योग्य है।

तारा पांडेय

बहन तारा से मेरा साक्षात् परिचय नहीं है, उसे मैंने देखा भी नहीं है। किन्तु, उसकी कविता में मैंने उसके दर्शन किये है उससे वह अपरिचित नहीं लगती, उसके अस्तित्व का कण-कण, उसके जीवन का पल-पल, उसके हृदय का स्थल-स्थल, उसमें से साफ झलकता है। और सदा का जाना पहचाना सा लगता है। उसकी सरलता, उसकी उज्ज्वलता, उसकी लघुता, हलकापन उसे वह महनीयता प्रदान करता है जिससे वह सबके उर का दुलार बरबस ले लेती है, सबको बरबस अपने पास खींच लेती है। निर्णय का कोई प्रश्न उसके सामने नहीं ठहरता, आलोचना-बुद्धि सो जाती है।

जैसे स्वय तारा ने कहा है—

सब के ही जीवन मे सुख दुख एक एक कर आता।
जीवन की छोटी धारा को अपने साथ बहाता।

किन्तु तारा के जीवन में सुख-दुख का एकत्व है, वे बारी-बारी से नहीं आते। उसके जीवन का साथी दुख ही उसका सुख भी है। जगती में उसने केवल

व्याकुलता के पथ पर अपनी।
आशा अभिलाषा खोना।

सीखा है। उसके व्यथामय पार्थिव जीवन ने उसके भावनामय अभिव्यंजना-सुख का जन्म दिया है। अपना दुखडा रोने में ही उसे चैन मिलता है—

किसमे कहूँ कौन सुन लेगा।
इस जीवन की करुण कथा?

वह अश्रुमयी सारे विश्व को अपने अश्रुओ से परिपूर्ण देखती है। सर्वत्र उसे अपने ही दुःख की परिछाईं दिखाई देती है।

मेरे रोने से ही सूखे पत्तो ने रोना सीखा।
मेरे आँसू देख ओस ने फूलो को धोना सीखा।
मेरी साँसो से समीर ने निःश्वासे भरना सीखा।

फूलो के दल पर मोती की तरह चमकती हुई ओस-कणो में और रात्रि में गगनागन को प्रकाशित करनेवाले तारको में उसे अपने ही आँसू दिखाई देते है।

ओस बिंदु मिस जन्म बहाकर ।
थक जाते है अश्रु नयन ।
× × ×

ऐ नभ था आश्चर्य मुझे भी सचमुच।
अश्रु कहाँ को है जाते.?
जान गई हूँ अब तो आहा
तुम्ही इन्हे हो ले जाते।

उसके लिए तारे शायद इस आशका से काँपते है कि कही मेरे आँसू आकाश पर थोडा सा भी अधिकार प्राप्त कर उनकी इतिश्री न कर दें।

काँपा करते या इस भय से
अपने मन मे हे सुकुमार।
कर ले कही न नभ पर किचित
ये आँसू अपना अधधिकार

नीहार में उसे व्यक्ति के हृदय का प्रतिरूप दिखाई देता है।

किस दुखिया की व्यथित आह तुम ।
किस की सुधि से हो छाये ।
अपनी धुँधली सी चादर प्रिय।
किसे उढाने हो आये ?
हा क्या मेरे व्यथित हृदय मे
सघे तुम्ही करते हो वास ?

यह बात नही कि वह सुख का अनुभव नही कर सकती अथवा सर्वजन-सुलभ सुख की आशका ही उसके हृदय में नही अथवा सुखकर वस्तुयें उसे भातीं ही नही। सुख के अभाव ही ने तो उसकी आँखों मे अविरल अश्रुओ को बसाया है। उसको इस बात का खेद है कि

खिलने से पहले ही हा,
मुरझाई है ये कलियाँ।
आशा के नव-नव पल्लव ॥
अनुराग भरी बल्लरियाँ।
सुख स्वप्नो की चंचलता ॥
सूनेपन मे पथराई ॥

यौवन की वह मादकता।
आँखो मे ही अलसायी।।

सुखकर वस्तुयें अब भी उसे सुन्दर लगती है। परन्तु साथ ही वे हृदयस्थ सुखाभाव की बडी गहरी चेतना दे जाती है। तारादेवी का ज्योत्स्ना-वर्णन बडा भव्य है। उसकी एक-एक पक्ति ज्योत्स्ना ही की भाँति दुग्धोज्ज्वल एक-एक अक्षर हँसता हुआ सा है। किन्तु आह! अंत में अपने हृदय का रुदन उसे उस हँसी मे भी दिखायी देने लगता है। और उसके हृदय का विषाद ज्योत्स्ना से उज्ज्वलता का भिखारी हो जाता है।

धो धो कर कौन सजाता
खाली कलियो की प्याली
अवनीतल पर विखरी है
किसकी निर्मल उजियाली?

फैली है सित किस सुख से
यह रजत किरण वसुधा मे
कलियो की प्याली धोती
सुन्दर मधुमयी सुधा मे।।

शुचि भव्य भवन ही होवे
या पर्णकुटी का प्रागण।
सब मे समता से हँस हँस
भरती है नव नवजीवन।।

चुपके से कुसुम दलो का
करती है मधुमय चुम्बन
निशि के काले केशो को
सुलझाती है प्रेयसि बन

हँसने मे रुदन निरख लो
फूलो के तुहिन कणो से
मेरे उर को भी भर दो
बाले, उज्ज्वल किरणो से

उसने भी कभी अमिश्रित सुख देखा था, आनन्द की हिलोरो में बही थी। अपने शैशव की भोली पवित्रता और यौवनारम्भ की मुग्ध मधुरिमा की उसे अब भी रह-रहकर याद हो आती है।

ऊषा के अंचल मे मेरी
बालापन की मृदु मुसकान।
फूलो की पलको मे हँसता
यौवन का पहला आह्वान।।

परन्तु उसके ये सुख मानो विधाता से देखे न गये। स्वप्न के समान क्षणिक निकले। उसने माता का लाड न पाया, जीभर प्राणेश्वर की सेवा नही कर सकती। शैशव में ही वह मातृहीना हो गयी और यौवनारम्भ में ही रोगिणी। माता के लिए वह विकल हो जाती है। किसी के मुँह से माँ सबोधन सुन लेती है तो वह अब भी बच्ची बन जाती है और—

प्यारी माता कहने को हा
मेरा भी जी ललचाता।
माता होती तो क्या होता।
यह इच्छा बस रहती है।

अपने हृदयेश्वर के जीवन में वह नैराश्य के अतिरिक्त कुछ न ला सकी इसकी उसके हृदय मे कितनी गहरी चोट है। इसका दुखिया अथवा उसके सर्वस्व के सिवाय और कौन उचित अनुभव कर सकता है। जो लाई सो जानि है कै जिहि लागी होइ।

निराशा की वीणा मे देव
वेदना के गूँथे है तार।
छोड कर गहरे से नि श्वास।
छेड दूँगी अस्फुट झकार ।।
विकल होना मत सुनकर देव
छीन लेना मत अपना प्यार।
निरख कर मेरा सूनापन।
गिरा देना आँसू दो चार।

उसकी गहरी वेदना का ठिकाना नहीं। कष्ट से तड़फड़ाकर करुणा वरुणालय से पूछती है—

हुआ अत या अभी और है।
मुझे बताओ हे करुणेश।
सत्य बताना सत्यसिंधु अब
कितना शेष रहा है क्लेश।

तारा की शिकायत है कि यह ससार स्वार्थी है सुख मे सब साथ देते हैं किन्तु दुख में किनारा खीच लेते है ।

कभी यदि हँसती हूँ जग मे
सभी हँसते ऊँचा कर साथ
किन्तु रोने मे तो
नही देता ह कोई साथ ।।

अपार कष्ट की वेदना से विह्वल होकर उसका सुकुमार हृदय अपने प्राणेश को भी उलहना दे ने को बाध्य हो जाता है ।

इस कंटकमय जगती मे होता क्या कोई अपना ?
यह भेद बताते जाना ।
तुम एक-बार तो आना ।।

यद्यपि लोक में भी यही प्रसिद्ध है क सब सुख ही के साथी होते है दुख के कोई नही, फिर भी बात कुछ इससे उलटी ही जान पडती है । वस्तुतः दुख ही एक ऐसी स्थिति है जो प्राणी-प्राणी को समानुभूति के क्षेत्र में पहुँचाकर प्रेम के सूत्र में बाँध देती है । किसी के सुख में सम्मिलित होने के लिए चाहे हम व्यक्तिगत निमत्रण की अपेक्षा रक्खें परतु किसी के भी दुख के निवारण में योग देने के लिये परमात्मा की ओर से हमारे लिए सनातन निमत्रण है जो अमिट अक्षरो में हमारे हृदय पर लिखा हुआ है । इस निमत्रण की अवहेलना नही की जा सकती । जो और कुछ करने में असमर्थ है, दो आँसू दूसरे के दुख पर सच्ची वेदना के साथ उनके भी गिर जाते हैं । भेद केवल इतना ही है कि कभी-कभी अपने दुख में प्राणी इतना निमग्न हो जाता है कि वह यह भी नही देख पाता कि उसकी आँख के आँसुओ को पोछने के लिए कितनी आँखें उमडी आ रही हैं । करुणा की इसी प्लावन-कारिता ने भवभूति को 'एको रसः करुणएव' कहकर करुणा रस की प्रधानता उद्घोषित करने को बाध्य किया था ।

तारा ने भी साहित्य के नीले थाल को अपनी आँखो से झडनेवाले नक्षत्रो से सजाया है । अपने हृदय की सच्ची वेदनाओ को उसने सीधे-सादे छंदो में बटोरा है । उसका काव्य स्वच्छ, सरल और उज्ज्वल है । उसके भीतर की सरलता भाषा की सरलता में व्यक्त हुई है । उसके भावो और उनकी पुनरानुभूति के बीच भाषा कोई रुकावट नही डालती । इसीसे उसकी कविता उतनी ही प्रसन्न है जितनी विषादपूर्ण । उसकी अपनी अनुभूतियाँ है । मैंने

सुना है तारा को किसी मरनेवाली भयंकर बीमारी का सदेह हो गया है। उसके शरीर का रोग मरनेवाला हो न हो, पर इसमें सदेह नही कि उसके हृदय की । उसकी कविता लगनेवाली बीमारी है।

किससे कहूँ कौन सुन लेगा इस जीवन की करुण कथा।
बस डरती हूँ कहीं न लग जाये यह बीमारी मेरी॥

निस्सदेह तारा भाव-लोक की ज्योतिष्मती विभूति है।

'ज्ञ' का हिन्दी उच्चारण

'कर्मभूमि' के सम्पादक-द्वय के आग्रह से मैंने पं० चेतराम शर्मा के 'नूतन हिंदी व्याकरण का परिचय' लिखा था, जो उसके ता० १२-६-३९ के अक मे छपा था। दोष-दर्शन-बुद्धि से मैंने उसे नही लिखा था। ग्रथ मुझे बहुत अच्छा लगा। फिर भी उक्त व्याकरण में लिखी हुई एक बात मेरी डीठ मे ऐसी पड गई जो तथ्य के विरुद्ध थी। उसका निराकरण न करना उससे सहमत होना समझा जाता। शर्मा जी ने उसमें बडा जोर देकर लिखा है कि 'ज्ञ' का उच्चारण 'ग्य' नही 'ज्ञ' होना चाहिये। मैंने 'परिचय' में बतलाया कि इसमे सदेह नही कि मूलत. अर्थात् सस्कृत मे 'ज्ञ' का उच्चारण 'ज्ञ' था, पर आज भी यद्यपि संस्कृत के बहुत से धुरन्धर उसका उच्चारण 'ज्ञ' ही करने का प्रयत्न करते है, फिर भी हिंदी में उसका उच्चारण 'ज्ञ' न होकर ग्यं ही है। इसका शर्मा जी ने 'कमभूमि' के ३३ वे और ३४ वें अक में बडा तीव्र खडन किया है और यह आशय प्रकट किया है कि हिंदी मे भी 'ज्ञ' का उच्चारण 'ज्ञ' ही है ग्यं नही।

अपने पक्ष के समर्थन मे शर्मा जी ने बहुत-कुछ लिखा है, जो देखने म तर्क-सा जान पड़ सकता है, किंतु जिससे उनका पक्ष-समर्थन नही होता और जो वस्तुतः तर्क नही है। उदाहरण के लिए इग्लैड के किसी बडे पुस्तकालय के अध्यक्ष ने यदि डा० बेनीप्रसाद के नाम के स्थान पर वेणीप्रसाद लिख दिया— कहानी सच है या झूठ मैं नही जानता—तो न इससे बेनीप्रसाद ही अशुद्ध सिद्ध हो गया और न 'ज्ञ' का हिंदी उच्चारण ही 'ज्ञ' हो गया। उक्त पुस्तकाध्यक्ष का बेनीप्रसाद के स्थान पर वेणीप्रसाद लिखना हमारी प्रसन्नता का कारण भी नही हो सकता। अग्रेजी भाषा का भी कोई प्राचीन उद्गम है, किन्तु उक्त पुस्तकाध्यक्ष को अग्रेजी नामो को इस प्रकार सशोधित करने का ध्यान भी न आया होगा। पर अग्रेजो के और हिंदुस्तानियो के नामो की एक ही बात नही। गुलामो के नामो को जो चाहे संशोधित कर दे सकता है और सात समुद्रो के इस पार शर्मा जी उस पर खुशियाँ मनाते है! अब शर्मा जी की भी पुस्तक

जब उक्त बडे पुस्तकालय में पहुँचेगी तब उसकी सूची में चेतराम के स्थान पर चैत्रराम या चेतोराम (चेतस्+राम) देखकर शर्मा जी न जाने कितने प्रसन्न होगे ! क्या उस समय भी वे अपने मन से कह सकेंगे या नही—'चेतो राम ! ' ?

शर्मा जी का कथन है—'व्याकरण सूत्रकार महा मुनिवर पाणिनि कोरे वैयाकरण नही थे, ब बहुश्रुत थे, सक्षिप्त कथन के एक ही पडित थे।' ठीक है, थे। किंतु क्या अब इन गुणो की आवश्यकता नही रह गई है ? क्यो आज का वैयाकरण उन्ही बातो से चौंकता है, जिनको इन्ही गुणो की प्रेरणा से महा मुनिवर पाणिनि ने अपनाया है ? विश्वामित्र शब्द का उदाहरण स्वय शर्मा जी ने दिया है , किंतु उसके पाठ से कुछ भी लाभ उन्होने नही उठाया । उन्हें देखना चाहिये कि पाणिनि ने यह नही सोचा कि मै तो 'अक सवर्णे दीर्घ, लिख चुका हूँ, अगर 'विश्वामित्र' विश्व का शत्रु (अमित्र) नही होना चाहता तो अपना नाम बदल कर 'विश्वमित्र' रखे। आजकल का सा कोरा वैयाकरण ठीक यही करता और उसकी प्रशसा का पात्र कोई पुस्तकाध्यक्ष यदि उस समय होता तो वह कहता विश्वामित्र तुम नही बदलते, तो मै ही तुम्हारा नाम सशोधित करके 'विश्वमित्र' कर दूँ ।' परन्तु पाणिनि ने जब देखा कि विश्वामित्र भी किसी भले आदमी का नाम है और उससे अभिप्राय विश्व के अमित्र का न हो कर मित्र का ही है तो यद्यपि अपनी अष्टाध्यायी में एक-एक अर्ध मात्रा के कम होने पर उन्हें एक - एक पुत्रोत्पत्ति का हर्ष होता था, फिर भी उन्होने विश्वामित्र को इस अर्थ में सिद्ध करने के लिए नये सूत्र की रचना की—'मित्रे चर्षौ ।' आजकल के कोरे वैयाकरण की तरह उन्होने कठ—हुज्जती नही दिखाई कि विश्वामित्र के माने विश्व का मित्र हो ही नही सकता। जो उसका यह अर्थ करते है वे मूर्ख है, अशिक्षित है। उनकी बहुज्ञता बहुश्रुतता ने उन्हें रटन्त के आगे बढ़ाकर वैज्ञानिक बनाया, जो सदा तथ्यो के लिये सावधानी से आखें खोले रखता है, कोरा अधा वैयाकरण नही। पाणिनि, पतजलि, कात्यायन, वररुचि और हेमचन्द्र की वैज्ञानिकता का ही परिणाम है कि उन्होने भाषा विकास की अवस्थाओ को देखा और उनका लेखा किया। उनके समय में कट्टरपथियो की चलती तो हम आज भी संस्कृत या कोई अन्य भाषा बोलते होते और शर्मा जी के नूतन हिंदी-व्याकरण के लिखे जाने की नौबत तक न आती।

ज्ञान-विज्ञान लकीर की फकीरी के आसरे नही चलते। आँखे खुली रखकर सतत उपासना और मनन से वह समय आता है जब विद्या साधक को स्वयं

अपनी ओर से दान देने लगती है। वैयाकरण के लिए जब वह अवस्था प्रस्तुत होती है तब उसका यह गर्व दूर हो जाता है कि मै नियामक हूँ और वह स्वयं नियमन करने के बदले तथ्यो पर आश्रित नियमो को खोजने के विनीत काम पर लग जाता है। तब फिर वह यह नही सोचता कि 'अनुचित परम्परा और अशिक्षित जनता ही सब कुछ नही। व्याकरण इनका दास नही है।' भाषा के क्षेत्र में उसके लिए दृढ परम्परा सब कुछ हो जाती है। उसके साथ औचित्या-नौचित्य के भाव को वह जी मे नही लाता। क्या होना चाहिए, वह यह नही सोचता; क्या होता है, वह यह सोचता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषा का वास्तविक स्वरूप कृत्रिम व्याकरणो मे नही, भाषा के जन-समूह मे चलते हुए स्वाभाविक प्रवाह में है। भाषा जनता के व्यवहार में बनती या विकास पाती है। अपनी रचना को सजीव रखनेवाले रचयिता, जनता की अकृत्रिम भाषा से सदैव सजीवनी शक्ति खीचते हैं और वही वैयाकरण नव-प्रतिष्टित प्रयोगो का अन्वेषण करते है। जिन वैयाकरणो का नाम हम आज भी आदर के साथ लेते है, उन्होने यही किया, कुछ ऐसे भी रहे होगे जो इसके विरुद्ध चले होगे; उनका अब नाम भी नही लिया जाता।

ज्ञ का उच्चारण हिंदी में 'ज्ञ' होता है या 'ग्य' इसका निर्णय तथ्य का प्रश्न है। वास्तविक तथ्य के सामने चाहे सैकडो सूत्र खडे कर दिये जायँ, वे उसको गिरा नही सकते। तथ्य सूत्रो के अनुसार नही चलते, सूत्र तथ्यो के अनुसार चलते है और ज्यो ही नये तथ्य अस्तित्व में आते है, पुराने सूत्र नये सूत्रो के लिए स्थान छोडते जाते है। (यदि कोई आजकल सूत्रो का बनना असम्भव समझता हो तो, उपर्युक्त वाक्य मे 'सूत्र' के स्थान पर नियम' पढ़ें।) प० चेतराम शर्मा के अनुसार यह कथन कि 'ज्ञ' का हिंदी उच्चारण 'ग्य' है 'न सत्य है', न वैज्ञानिक।' परन्तु किसी तथ्य के सामने आँख मूँद लेने से तो उसका अस्तित्व मिट नही जाता। जान पड़ता है कि शर्मा जी किसी बहुत ही सीमित मडल मे घिरे बैठे रहते हैं, जहाँ 'ज्ञ' का 'ज्ञ' उच्चारण करने का ही प्रयत्न किया जाता है और सर्वत्र प्रचलित 'ग्य' कानो में नही पडने दिया जाता; या तथ्य को जानने पर भी कट्टरपंथी होने के कारण वे कठहुज्जती को पकड़े हुए हैं। कठहुज्जती की तो कोई दवा नहीं है, परन्तु यदि उनको विस्तृत जन-समाज मे जाने का अवसर अब तक नही मिला तो वे अब जावें और वस्तु-स्थिति को देखें। ऐसा करने से उन्हें पता चलेगा कि हिंदी-भाषी प्रदेश में सर्वत्र 'ज्ञ' का ग्य' या 'ग्य' ही उच्चारण होता है। शर्मा जी का कथन है कि "अब भी सैकडो हिंदी-भाषी 'ज्ञ' का 'ज्ञ' ही उच्चारण करते है।" लाखो करोड़ो के सामने सैकडो की क्या गिनती?

फिर वे 'ज्ञ' का 'ज्ञ' उच्चारण करने का प्रयत्न करनेवाले सैकडो अपनी हिंदी-मातृपिता के कारण 'ज्ञ' का 'ज्ञ' उच्चारण करने का प्रयत्न नही करते, बल्कि अपने सस्कृत-ज्ञान के कारण। और साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सब सस्कृतज्ञ भी 'ज्ञ' का 'ज्ञ' उच्चारण करने का प्रयत्न नही करते, बहुत उसे 'ग्य' या 'ग्य' ही पढते है।

इस प्रश्न के निर्णय में साहित्य से भी पूरी सहायता मिल सकती है। गोसाईं तुलसीदास जी हिंदी के सबसे श्रेष्ठ कवि है। उनकी महत्ता स्वीकार करने मे किसी को आनाकानी नही हो सकती। हमारी सस्कृति के उद्धार का अपनी रचना के द्वारा उन्होने बडा शक्तिशाली प्रयत्न किया है। उनसे किसी ऐसे काम के हुए होने की सभावना नही जो सास्कृतिक दृष्टि से च्युत हो। उन्होने ज्ञ का हिंदी उच्चारण ग्य ही माना है जैसा उनके रामचरित मानस से प्रकट होता है। रामचरित मानस के बहुत प्राचीन हस्तलेख प्राप्त है जिनमे से सबसे प्राचीन स० १६६१ की श्रावणकुज की बालकाड की प्रति है, जिसकी प्रतिलिपि गोसाई जी के जीवनकाल ही मे हो गई थी। दूसरी राजापुर की अयोध्याकाड की प्रति है जिसका सवत् तो ज्ञात नही है किंतु जो स्वय गोसाई जी के हाथ की लिखी कही जाती है। तीसरी स० १६७२ की दुलही की सुदर काड की प्रति है चौथी काशिराज की १७०४ की और पाँचवी भागवतदास छत्री की १७२१ वाली प्रति है। पहली तीन तथा पाँचवी प्रति का उपयोग कल्याण के मानसाक के संपादन मे किया गया है। इनमे से तीसरी को छोड़-कर शेष तीन का प्रयोग प० विजयानद त्रिपाठी के सस्करण (लीडर प्रेस) मे किया गया। अधिकतर पाँचवी के आधार पर और पहली, चौथी तथा छक्कनलाल जी के सस्करण के पाठ भेद बताते हुए गौड जी ने अपना सस्करण निकाला। पहली तथा चौथी के आधार पर नागरी प्रचारिणी सभा वाला सस्करण पं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन और बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित हुआ। रामचरितमानस के ये ही चार सस्करण सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते है और अलग अलग प्रवृत्तिवालो के प्रस्तुत किये हुए है। मानसाक धार्मिक प्रेरणा का फल है, विजयानन्द जी में धार्मिक प्रेरणा के साथ गोसाई जी के प्रति कुछ विशेष व्यक्तिगत भाव-सम्बन्ध भी है क्योकि गोसाई जी के काल से परम्परागत असी, काशी के तुलसी-अखाड़े से उनका सम्बन्ध है। गौड जी स्थूल विज्ञान (रसायन शास्त्र) के विद्वान् होने के साथ-साथ भक्त और साहित्यिक थे और नागरी प्रचारिणी सभा वाला सस्करण शुद्ध साहित्यिक प्रेरणा का परिणाम है।

इन विभिन्न योग्यता के व्यक्तियो के पास भिन्न भिन्न सामग्री होने पर भी सबका उद्देश्य एक ही था 'शुद्धपाठ' को उपलब्ध करना। गोस्वामीजी की अपनी लेख-प्रणाली जैसी थी अथवा प्रामाणिक पोथियो में जैसी प्रणाली देखने मे आई है' वैसी जिसमे हो, ऐसा सस्करण गौड जी का आदर्श था। मानसाक के सम्पादको का 'निवेदन' है – ग्रथकवि के प्रतिज्ञानुसार, प्राकृत अथवा 'भाषा' मे लिखे जाने के कारण उसके प्रयोग भी 'भाषा' के ही अनुकूल होने चाहिए। प्राकृत में 'ऋ' के स्थान में 'रि' 'ण' के स्थान मे 'न', 'श' के स्थान मे 'स', 'क्ष' के स्थान में छ, च्छ, क्ख, अथवा ष और 'ज्ञ' के स्थान में ग्य का प्रयोग होता है। प्राचीन प्रतियो मे ऐसा ही किया गया है अत. हमने भी सस्कृत के श्लोको तथा कुछ ऐसे छदो को छोडकर जिनमे अधिकाश तत्सम शब्दो का प्रयोग हुआ है तथा जो सस्कृत ढग से लिखे गये है, इसी शैली का अनुसरण किया है। प० विजयानन्द त्रिपाठीजी का 'कहना' है—"आज से पचास वर्ष पहिले तक लोग हिंदी की वर्णमाला को सस्कृत की वर्णमाला से कुछ भिन्न सी मानते थे और लिखने में उन्ही अक्षरो का प्रयोग करते थे जो हिंदी के सुखोच्चार्य शब्दो के लिखने के लिए पर्याप्त थे।" इन सिद्धातो के परिणाम स्वरूप हमको इन सस्करणो मे, कम से कम उन काण्डो में जिनकी बहुत प्राचीन और प्रामाणिक प्रतियाँ मिलती है, पाठ बहुत शुद्ध मिलता है। और उनमे हम देखते है कि ज्ञ के स्थान पर सर्वत्र ग्य लिखा है। अलग अलग शब्दो के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते है—

	मानसांक	वि० त्रि०	गौड	ना० प्र० सभा
जग्य विधंस जाइ तिन्ह कीन्हा—	पृ० ११२	पृ० ४५	पृ० ३५	पृ० ३२
धीरज धर्म ग्यान विज्ञाना	१२४	५५	४३	४०
त्रिकालग्य सर्वग्य तुम्ह	११३	४५	३६	३३
अग्य जानि रिस जनि उर धरहू	१४३	७१	५६	५१
अनुचित वचन कहेउ अग्याता	२६५	१६६	१३१	१२१
प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला	११९	५०	३९	३७
अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी	११९	५१	४०	३७

प० विजयानन्द त्रिपाठी ने अपने लिए यह नियम भी बनाया था कि जिस प्रति के आधार पर जो काण्ड सपादित हो उस काण्ड मे उसी का पाठ रक्खा जाय। बाल और अयोध्याकाण्ड की प्रतियो को छोडकर उन्हे मिली हुई और प्रतियाँ कुछ अर्वाचीन थी, उनमे कही ज्ञ लिखा है और कही ग्य, किंतु ग्य का अभाव उनमे भी नही है। और प्रतियो में हिंदी अशो मे सर्वत्र 'ग्य' है।

और संस्कृत श्लोकों में सबमें सर्वत्र ज्ञ है। इससे सिद्ध है कि सस्कृत के ज्ञ का हिंदी उदाहरण ग्य है। इसके अतिरिक्त याज्ञवाल्क्य मुनि का जहाँ जहाँ उल्लेख आ है वहाँ गोसाईं जी ने उनको जागबलिक कहा है—

	मानसांक	वि० त्रि०	गौड़	ना० प्र० सभा
जागबलिक जो कथा सुहाई,	पृ० ८५	२४	१६	१७
जागबलिक मुनि परम विवेकी,	पृ० ६८	३४	२७	२५
जागबलिक बोले मुसुकाई,	पृ० ६६	३५	२७	२५

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञ से ग्य में परिवर्तन केवल अक्षराकार का नही है उच्चारण का है और उस परिवर्तन में ग् का सयोग है, अन्यथा 'ज्ञ' का 'ग' न हो सकता जैसा यहाँ हुआ है अर्थात् ज्ञ का हिंदी उच्चारण निश्चय रूप से गादि है, ग् से आरम्भ होता है। ध्यान रहे यहाँ 'याग' से नही 'याज्ञ' से 'जाग' बना है। नाम याज्ञवल्क्य है, यागवल्क्य नही। हिंदी साहित्य में इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि ज्ञ के हिंदी उच्चारण में ग् और य् का निश्चय रूप से सयोग है। कुछ प्रमाण यहाँ दिये जाते है। विद्यापति में ऐसे उदाहरणो की कमी नही है—

माधव पेखल अपरुब बाला। सैसव जावन दुहु एक मेला।।
विद्यापति कह तुहु **अगेआनि**। दुहु एक जोग इह के कह सयानि।।
—पदावली रामवृक्ष शर्मा स० पृ० ७।

तापर चचल खंजन जोर। तापर साँपिनि झाँपल मोर।।
ए सखि रगिनि कहल निसान। हेरइत पुनि मोर हरल **गिआन**।।
—वही पृ० ५२।

लोभे निठुर हरि कएलन्हि केलि। की कहब जामिनि जत दुख देलि।।
हठ मेल रस मोर हरल **गेआन**। निबि-बँध तोडल कखन के जान।।
—वहीं, पृ० १२६।

कबीर—जल मै कुभ कुभ मै जल है, बाहरि भीतर पानी।
फूटा कुभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ **गियानी**।।
—कबीर ग्रन्थावली पृ० १०३, ४४।

माया आदर माया मान। माया नाही तहँ ब्रह्म **गियान**।
—वही, पृ० ११४, ८४।

मेरी जिभ्या विस्न नैन नाराइन हिरदै जपौ गोविंदा।
जम दुवार जब लेखा माँग्या तब का कहिसि मुकदा।।

तू बाँह्मण मैं कासी का जुलहा चीन्ह न मोर **गियाना**।
तैं सब माँगे भूपति राजा, मोरे राम धियाना ।।
वही, पृ० १७३, २५० ।

जायसी—सोहं सोहं बसि जो करई। जो बूझै सो धीरज धरई ।।
कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझै सो सिद्ध **गियानी** ।।
अखरावट, अंतिम चौपाई ।

दादू—राम बिना सब फीके लागै, करनी कथा **गियान**।
सकल अविर्था कोटि करि, दादू जोग धियाना ।।
दादू बानी, प्रथम भाग, पृ० २५५, ७५ ।

इन उद्धरणो से सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि ज्ञ के हिंदी उच्चारण में ग् और य् दोनो का सयोग है। यदि यह बात न होती तो 'गियान' रूप बनता ही नहीं, शायद उसके स्थान पर जिज्ञान बनता। ऊपर के उद्धरणो में दो ऐसे भी है जिनमें 'गियाना' के साथ साथ 'धियाना' भी आया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैसे 'धियान' का पूर्णरूप ध्यान है उसी प्रकार 'गियान' का निकटतम पूर्व रूप 'ग्यान' है। गिआन या गेआन (विद्यापति) से भी स्थिति में कुछ अन्तर नही पडता। उनमें ग्यान का 'य' 'ई+अ' के रूप में विद्यमान है। गेआन में ए की मात्रा का उच्चारण लघु है और इ के निकट है।

इस प्रकार यह अटल रूप से निश्चित है कि मेरा कथन कि 'ज्ञ' का हिंदी उच्चारण 'ग्य' ही है 'ज्ञ' नही सत्य है, अमोघ सत्य है। और जो सत्य है वह अवश्य वैज्ञानिक है। क्योंकि सत्य की खोज का ही नाम विज्ञान है। यही कारण है कि भाषा-विज्ञान के विद्वान् भी इसी निर्णय पर पहुँचे है कि ज्ञ का हिंदी उच्चारण ग्य है। उदाहरण के लिए, अपने ग्रंथ, हिंदी भाषा का इतिहास' में पृ० १३९ पर ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है—'ज्ञ (ज्+ञ्) के सयुक्त रूप मे कई प्रकार के परिवर्तन हो जाते है—

आग्या	आज्ञा।
जनेऊ	यज्ञोपवीत।
जग्य, जाग (बो०)	यज्ञ।
रानी	राज्ञी।

और पृ० १४७ पर लिखा है—

"सं ज् ञ्, यग्य, ग्यान जाग (बो०) यज्ञ ज्ञान"

बात यह है कि आदमी अपने हरेक काम में सुख चाहता है, आसानी ढूंढता है। बोलने में भी वह आसानी चाहता है। इसी मुख-सुख के कारण उच्चारणों में परिवर्तन हो जाता है। समय और परिस्थिति के बदलने से जब किसी अक्षर या शब्द का उच्चारण कठिन जान पडने लगता है तो जन-समाज की जिह्वा पर उसका रूप बदल जाता है। ज्ञ के मूल उच्चारण में भी इसी कारण परिवर्तन हुआ और वह परिवर्तित रूप में हिंदी मे पहुँचा।

ज्ञ के हिंदी में तीन परिवर्तित रूप मिलते हैं—१ग्य गा ग्या २ न और ३ ज। ग्य परिवर्तन में पूर्ण परिवर्तन होता है दोनो अक्षर बदल जाते है, ज का ग् और ञ् का य् हो जाता है। न परिवर्तन में ज का लोप हो जाता है और ञ् न् के रूप में विद्यमान रहता है। ज परिवर्तन में ञ् का लोप हो जाता है और ज् रह जाता है।

पहले दो के उदाहरण ऊपर दिये ही जा चुके है। तीसरा—जैसे अजान (अज्ञान) ज्ञ के ज और न परिवर्तन विरल है और लिखावट मे सर्वथा आ गये है किंतु ग्य परिवर्तन इतना व्यापक हुआ कि बहुधा अक्षर-परिवर्तन के द्वारा उसका निर्देश करना आवश्यक न समझा गया, क्योकि ज्ञ को धकेल कर अक्षर के पुराने आकार (ज्ञ) को उसने आत्मसात् कर लिया। यही कारण है कि 'ज्ञ' अक्षराकार के भीतर तथ्य का जो परिवर्तन हो गया उसका असावधान दर्शको को भान न हुआ और दुराग्रहियो को उसकी ओट में तथ्य-परिवर्तन को अस्वीकार करने का अवसर मिल गया। फिर भी पुराने सावधान लेखको और लिपिकारो ने इस परिवर्तित उच्चारण का ध्यान रखकर ज्ञ को ग्य ही लिखा है। जैसा हम ऊपर देख चुके है। आजकल उच्चारण 'ग्य' होने पर भी अक्षराकार 'ज्ञ' ही रक्खा जाता है, ग्य हिंदी के पुराने अर्थात् अवधी वा ब्रजभाषा के ग्रंथो मे ही रक्खा जाता है। इसी बात से धोखा खा कर 'हिंदी शब्दसागर' कारो ने 'ग्यान' को प्रांतिक प्रयोग माना है। पर उन्होने ज्ञान के उच्चारण को ग्यादि माना ही नही, यह बात नहीं।

अब देखना यह चाहिए कि 'ज्' का ग् और ञ का य या य् कैसे हो गया है। ज् का ग् हो जाना कोई नई बात नही। स्वयं संस्कृत में इसके पर्याप्त प्रमाण विद्यमान है। 'च जोः कु घिण्यतो' सूत्र के अनुसार घञ् प्रत्यय लगने से रुज् से रोग भुज् से भोग, युज् से योग और भज् से भाग हो जाता है। संस्कृत से हिंदी की ओर विकास मे भी यह प्रक्रिया दिखाई देती है। संस्कृत मे जो 'रञ्जन' है वही हिंदी में 'रँगना' हो गया है। अँगरेजी के g वर्ण के शब्दो में जुडने पर ज् और ग् दोनो उच्चारण होना, इस बात का

साक्षी है कि अँगरेजी से भी दोनों उच्चारणो का परस्पर गहरा सम्बन्ध सिद्ध होता है। यही नही, सस्कृतेतर भारत-यूरोपीय भाषाओ मे यदि स्वय ज्ञ् धातु की यात्रा का पर्यवेक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि वहाँ वह ज् को ग् (या क) और ञ् को न् बनाये विचर रही है, सस्कृत ज्ञ लैटिन और ग्रीक में gno हो गया है और अँगरेजी के कई शब्दो में विद्यमान है जैसे ignorance, agnosticism, cognisance, recognition पर, पुरानी अँगरेजी [(ge) cnawan] पुरानी उच्च जर्मन [– cnaan] पुरानी नार्स (आइस लैंडी) [kna] और फरासीसी मे [connaitie] मे ग् के स्थान पर क् है। यही बात अँगरेजी शब्द acknowledgement मे है। कही कही इस क् और ग् का उच्चारण नही भी होता है जैसे know और gnosis मे। प० चेतराम शर्मा यद्यपि इस बात को नही मानते कि ज्ञ का हिंदी उच्चारण ग् युक्त है फिर भी इतना उनको भी स्वीकार करना पडा है कि ज् के स्थान पर मे ग् हो सकता है। उनके लेख मे है यह एक स्थल, जहाँ उन्होने प्रतिपक्ष को समझने मे बुद्धि-प्रयोग की ओर प्रवृत्ति दिखाई है। वे कहते है-'ज' को 'ग्' बनानेवाले सूत्र तो है, पर 'ञ' को 'य्' बनानेवाले नही। परन्तु उनकी जिज्ञासा भी बहुत सकुचित है, जजीरो से जकडी हुई है, सूत्रो से बाहर नही झाँकना चाहती। शब्द-प्रमाण से बाहर पाँव रखने का यदि वे साहस करते तो प्रत्यक्ष प्रमाण को उनकी दीठ मे पड़ने मे देर न लगती। बात यह है कि स्वर-युक्त स्वतत्र रूप में संस्कृत शब्दो मे भी 'ञ्' नही के बराबर आता है। अधिकतर वह चवर्गीय अक्षरो के पहिले सयुक्त रूप मे ही आता है। इसलिए उसके उच्चारण की बार-बार आवश्यकता नही पड़ी। अनभ्यास होते-होते धीरे-धीरे लोग उसका उच्चारण ही भूल गये। और अब यह परिस्थिति है कि 'ञ' की मूल ध्वनि हिंदी में है ही नही, उसका स्थान 'य्' ने ले लिया है, जो उसी स्थान (तालु) से उच्चारित होनेवाली उसके निकटतम की ध्वनि है। जैसा डा० वर्मा कहते है–'ञ्' अनुनासिक 'य्' अर्थात् 'यँ' से बहुत मिलता–जुलता है। (हि० भा० का इ०, पृ० १०४) 'ज्ञ' का शुद्ध मूल उच्चारण करने का दावा करनेवाले भी 'ञ' के स्थान पर 'ञ' और 'याञ्ञ' के स्थान पर 'याचञा' ही कहते सुने जाते है। इसी कारण 'ज्ञ' के हिंदी उच्चारण मे मूल 'ञ' का 'य्' या 'य' हो गया है।

इस प्रकार यह कथन कि 'ज्ञ' का हिंदी उच्चारण 'ग्य' या ग्य है, सत्य और वैज्ञानिक दोनो है।

शर्मा जी ने मुझ पर एक व्यंग छोड़ा है, जिसका उत्तर ऊपर नही आया है। उन्होने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि मै भी "शिक्षा की दुहाई देता हूँ।" 'दुहाई' के माने शर्मा जी के कोष में न जाने क्या है ! उस परिचय मे शिक्षा की दुहाई देने की आवश्यकता ही मुझे नही पड़ी थी। यह मैंने अवश्य कहा था कि शिक्षा भी उच्चारण के जिन परिवर्तनो को नही रोक सकती, उन्हें स्वीकार करना ही पडता है। ऐसा कह कर यदि शर्मा जी के मत मे, मैंने प्राचीन शिक्षा की दुहाई दी है, तो शर्मा जी को अब 'नूतन-कोश' भी गढना पडेगा। हाँ, यदि इससे वे नई अर्थात् हिंदी-शिक्षा की दुहाई की व्यंजना देखते है तो गलती नही करते, पर ऐसा करने से उनके व्यग के लिए स्थान नही रह जाता। शर्मा जी यह समझे-बैठे भी जान पडते है कि शिक्षा एक ही भाषा की सम्पत्ति है, औरो की हो ही नही सकती, या यह कि हिंदी का उच्चारण सर्वाश में सस्कृत-शिक्षा के नियमो से ही निश्चित होगा। उनको जानना चाहिये कि भाषा-भेद के साथ शिक्षा-भेद आवश्यक है। सस्कृत से हिंदी में उच्चारण का जो अन्तर पड गया है उसका लेखा न करके यदि हिंदी-शिक्षा प्राचीन शिक्षा की आँख मूँदे नकल करती रही, जैसा शर्मा जी चाहते है कि ज्ञ के सम्बन्ध में वह करे, तो न वह वैज्ञानिक होगी और न हिंदी की शिक्षा ही।

'परिचय' की एक और बात का खंडन करना शर्मा जी को अभीष्ट हुआ है। मैंने उसमें लिखा था 'पूरब से परिचित न होने के कारण शर्मा जी का ध्यान ने विभक्ति के लोप की गलती की ओर नही गया।' इस सम्बन्ध मे शर्मा जी का कथन है कि 'नूतन हिंदी व्याकरण' मे "(कर्ता की) न विभक्ति, उसके प्रयोग, अप्रयोग और अपप्रयोग पर अति विस्तरेण लिखा है। कुछ अपप्रयोग परिशिष्ट मे और कुछ तत् तत् प्रकरण में दिखाये गये है।" 'हम खाये हैं', 'हम खा लिए हैं' के लिए वे नूतन व्याकरण, १११ पृष्ठ का अतिम अनुच्छेद देखने को कहते है, पृष्ठ ११२, ११३, ११४, १८२, १६० और २२६ भी देखने की आज्ञा दी है।

परिशिष्ट में अपप्रयोग के स्तम्भ मे तो इस गलती का उल्लख है नही। पृ० १११ से ११४ और १८२ तथा १६० भी मै बडे ध्यान से पढ़ गया हूँ। पर इनमें भी कही भी मुझे वह स्थल नही मिला जहाँ उन्होने इस गलती का उल्लेख किया हो। कर्तरि प्रयोग के कुछ उदाहरण उन्होंने अवश्य दिये है, जिनमे यह गलती है। पर गलती दिखाने के लिए ये उदाहरण नही दिये गये है, बल्कि एक ही क्रिया के कर्तरि और कर्मणि उभयविध प्रयोगो को

समझाने के लिए ऐसा किया गया है। इन उदाहरणो से यदि कुछ समझा जा सकता है तो यही कि शर्मा जी इनको गलत नही मान रहे है। यहाँ पर शायद उनके शब्दो को ही उद्धृत करना ठीक होगा (पृ०११३) 'जनना और सोचना के भी उभयविधि प्रयोग प्रचलित है– 'भैस पाडा जनी,' 'बकरी बच्चे जनी'– कर्तरि प्रयोग, 'भैस ने पाडा जना', मैने तुझे जना, चित्रागदा ने उसे जना–कर्मणि प्रयोग। 'वह यह बात सोची', उसने यह बात सोची, 'लडकी यह बात सोची', लडकी ने यह बात सोची–लडकी ने यह तत्व सोचा।' अब पाठक ही बतावे कि क्या यहाँ सचमुच शर्मा जी गलती बता रहे है ? अलबत्ता पृ० २०९ पर उन्होने यह समझाते हुए कि 'जिस पद-वाक्य के आगे प्रश्न चिन्ह कोष्ठ के भीतर हो, वह अशुद्ध सदिग्ध या चित्य समझा जाता है', दैवयोग से प्रश्न-चिन्ह का एक उदाहरण यह भी दिया है--हम खाये है (?)। इस उदाहरण से ही यदि हम कुछ परिणाम निकालने को वाध्य हो तो इतना ही कहा जा सकता है कि वे उक्त वाक्य को किसी कारण से अशुद्ध, संदिग्ध या चित्य, इन तीनो मे से कुछ मानते है, यह नही कि वह निश्चय रूप से अशुद्ध है और वह भी ने विभक्ति के लोप के कारण। इन तीनो मे वह क्या है और किस कारण, यह स्पष्ट नही कहा गया है, क्योकि उसकी वहाँ जरूरत ही नही थी। जैसा उद्धरण से स्पष्ट है कि यह उदाहरण भी कोष्ठ के भीतर के प्रश्न-चिन्ह का उपयोग बताने के लिए 'विरामादि चिन्ह-विचार' अध्याय के अन्तर्गत दिया गया है, 'ने'--लोप की गलती बताने के लिए नहीं। विभक्ति का वहाँ प्रसग ही नही है। मेरे कथन के विरोध मे इसका हवाला देकर यदि शर्मा जी यह कहना चाहते है कि उनका अभिप्राय यही था कि इसी से विद्यार्थी समझ ले कि 'ने'-- लोप की भी दुनिया मे कोई गलती होती है तो उनकी चातुरी की भूरि-भूरि प्रशसा करने के अतिरिक्त हम और कर ही क्या सकते है ! या यहाँ शर्मा जी हमें भी प्रश्न-चिन्ह के प्रयोग की आज्ञा देगे ?

इसम सन्देह नही कि 'ने'–विभक्ति का विवेचन करते समय तथा अप-प्रयोगो का वर्णन करते समय शर्मा जी का ध्यान 'ने' लोप की गलती की ओर नही गया, नही तो वे वहाँ उसकी ओर पाठको का ध्यान अवश्य आकर्षित करते। शर्मा जी को अगर शिकायत हो सकती है तो इतनी ही कि मुझे यह न कहना चाहिए था कि उनके पूरब से परिचित न होने के कारण एसा हुआ।

किंतु शर्मा जी को इतने ही खंडन से सतोष नही हुआ। 'ने'–लोप की गलती के उदाहरण में मैने बाबू मैथिलीशरण की एक पक्ति उद्धृत की थी। वह पक्ति है–'गुरु वसिष्ठ जाबालि और तब हेरे' खडी बोली सुनने के आदी

कानो को यह चरण सहसा खटक जाता है। उसका शुद्ध रूप होता—'गुरु वसिष्ठ ने जाबालि-ओर तब हेरा।' परन्तु छन्द में होने के कारण शर्मा जी उक्त चरण को अशुद्ध नही मानते। उनको वह सरस जान पडता है। उनका मत यह भी है कि 'हेरे' के स्थान पर 'हेरा' होता तो सरसता लुप्त हो जाती। छंद की बात तो जाने दीजिये। छद के लिए व्याकरण की हत्या नही की जा सकती। बाबू मैथिलीशरण जी ने छद के बधन के कारण विवश होकर शायद ही यह गलती की हो। छद—रचना-कौशल में उनसे पटु शायद ही कोई हो। यह प्रातिक प्रयोग अनजाने ही उनसे हो गया। उन्हे यदि वह खटकता तो वे उसे दूसरे रूप में ढाल देते। अब रहा काव्य की सरसता का आग्रह। सो हेरे की तुलना में हेरा 'अति सासारिक' है, उसमें 'नग्न बकवादीपन' है (—'नग्न बकवादीपन बडे लुभावने शब्द है, किंतु मैं लोभ—सवरण करूँगा !), और 'भावुकता का अभाव' है—यह मेरे लिए नई बात है। 'हेरा' का 'हेरे' हो जाने ही से काव्य में कोई सरसता नही आ जाती। स्वय बा० मैथिलीशरण गुप्त देखा-पेखा क्रियाओ का बराबर प्रयोग करते रहते है और उनके आकार के कारण उनके काव्य में भद्दापन और कठोरता नही आती। यदि उनसे भद्दापन आदि आता तो आज काव्य में उनका कहीं पता न रहता। उनके स्थान पर सर्वत्र 'देखे' और 'पेखे' विराजते होते।

परन्तु शायद शर्मा जी ने सरसता का दूसरा आधार खोजा है, वह है 'हेरे' का बहुवचन। शर्मा जी व्याकरणी है, अब उनका व्याकरण-चमत्कार देखिये। उनका कथन है कि हेरे आदरार्थक बहुवचन है। उससे किसका आदर होता है? क्या गुरू वसिष्ठ का? वही इसका उत्तर 'हाँ' दे सकता है, जिसको ने लोप की गलती नही खटकती, क्योकि 'ने' का प्रयोग हो जाने के बाद कर्मणि प्रयोग में क्रिया के लिग-वचन कर्म से शासित होते है, कर्त्ता से नही। परन्तु शर्मा जी का उद्देश्य ही यह सिद्ध करना है कि नही जी मेरा ध्यान इस गलती की ओर जरूर जाता है।

तो क्या जाबालि का! जाबालि शब्द के साथ यदि 'ओर' न जुडा होता तो जाबालि के प्रति आदर प्रदर्शन के लिए 'हेरे' आवश्यक होता, किंतु 'ओर' ने उस अवस्था को रोक दिया है और शर्मा जी के लिए दो ही मार्ग खुले रक्खे है कि या तो वे स्वीकार करे कि मुझे 'ने' लोप की गलती खटकती नही है या फिर 'ओर' से प्रार्थना करे कि "हे देवि! प्रसन्न होकर स्त्री लिग बहुवचन रूप में विराजिए ('ओरें हेरी') हम आपका आदर करना चाहते है!"

चौरंगीनाथ

चौरगीनाथ उन महात्माओ में से हुए है जिन्होने अपनी कठोर साधना से प्राप्त सिद्धि को जन वाणी के द्वारा सर्व-साधारण के लिए सुलभ करने का प्रयत्न किया था। सीधे-सादी जनता के हृदय तक पहुँचने के लिए उन्होने सीधी-सादी भाषा का प्रयोग किया था। और जान पडता है, कि जनता के हृदय पर इसका इतना गहरा प्रभाव पडा कि यद्यपि उनकी रचनाएँ बहुत कम मिलती है फिर भी उनके नाम का आज भी प्रभाव आ ही जाता है।

चौरगीनाथ नाथ सम्प्रदाय के योगी थे। उनके जीवन का कोई ऐसा विवरण नही मिलता जिसको इतिहास कोटि मे गिन सकें। उत्तराखण्ड मे प्रचलित झाड-फूँक के मत्रो में उनका उल्लेख हुआ है। ये मत्र अलग-अलग स्थानो मे कुछ अन्तर के साथ मिलते है। इन विभिन्न स्थानो में मिलनेवाले मत्रो में और चाहे जो अन्तर हो, इनके सबध की एक घटना का उल्लेख आवश्यक मिलता है, जिससे इनके नाम की सार्थकता प्रकट होती है।† वह घटना है कि इनके कटे हुए हाथ-पाँव फिर से उग आये। इनके हाथ-पाँव क्यो और कैसे कटे थे, इनका उल्लेख इन मत्रो में नही है।

दादूपथी साधु राघवदास ने अपने भक्तमाल में इसका कारण बताया

---

†—"चोथा पहर तोहि सुमरौ चौरगीनाथ वीर भैराउ..
जिनने गये हाथ पाँव मौलाई लीया।"
धरमसील सत राषतै चौरगी कारज सरे।
अद्भुत रूप निहारि दौर करि माई पकरचो।।
दावण लीया फारि जारि करि बाहर निकरचा।
रको करी पुकार पुत्र अच्छया हो जाया।।
राजा मन पछिताय हाथ पग दूरि कराया।
राघौ प्रगटे परमगुर कर पद ज्यू के त्यू करे।।
धरमसील सत राषतै चौरंगी कारज सरे।

हैं। चौरंगीनाथ अत्यंत रूपवान राजकुमार थे। उनकी [सौतेली] माता उनपर मोहित हो गयी। उसने एक दिन इन्हे बुरी दृष्टि से पकड़ना चाहा। ये बल-पूर्वक अपने को छुड़ाकर भाग गये। इन्हें इतना बल लगाना पड़ा कि इनका पल्ला फट गया। रानी को क्रोध आया और उसने राजा से उलटे उलहना दिया कि अच्छा पुत्र पैदा किया है आपने। राजा को वास्तविक बात तो मालूम थी नही, उसको पुत्र की करनी पर बड़ा पछतावा हुआ। क्रोध में आकर उन्होंने उसके हाथ-पाँव कटवा दिये। राजकुमार धर्मशील और निर्दोष था। उसने सत की रक्षा की थी। इसलिए परम गुरु ने प्रकट होकर उसके हाथ-पाँव ज्यो के-त्यो कर दिये। नाथपंथ में परम गुरु आदिनाथ शिव माने जाते है। और गोरखपथ में गोरखनाथ। कथानको पर कनफटो (गो० प०) का ही अधिक प्रभाव है। इसलिए गोरख ही के प्रभाव से हाथ-पाँव का उग आना समझना चाहिए, यद्यपि ऊपर कहे मंत्रो के अनुसार चौरंगीनाथ के प्रभाव से ही ऐसा हुआ था। चौरंगी वीर राजपुत्र था, इसकी कुछ-कुछ पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि एक मंत्र में वह सौ मन भारी बरछा खेलाने वाला कहा गया है।‡

यह कथा राजा रसालू की कथा से मिलती है, पूरनमल भक्त की कहानी जिसका आधुनिक रूप जान पड़ती है। दंतकथाओ के अनुसार यह रसालू राजा शालिवाहन का पुत्र था। जो गोरखनाथ के आशीर्वाद से उत्पन्न हुआ था। इन मंत्रो के अनुसार चौरंगीनाथ के ही प्रभाव से शालिवाहन के पुत्र हुए, चौरंगीनाथ के पिता का नाम उनमें नही दिया गया है। यह संभव है कि मंत्र और किंवदंती दोनो में विरोध न हो। रसालू हाथ-पाँव उग आने के बाद जोगी हो गया था। हो सकता है कि इस घटना के बाद उसके आशीर्वाद से शालिवाहन के पुत्र हुए हो।†

राजा शालिवाहन का चौरंगी के साथ उल्लेख सम्भवत हमें इतिहास की भूमि मे पाँव रखने के लिए थोड़ी सी जगह दे। मंत्रो के प्रभाव पर हम जितना संदेह कर लें, किंतु यह संदेह हम उन पर नही कर सकते कि किसी बाहरी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शालिवाहन का उल्लेख करके उनमें जाल रचा गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह शालिवाहन कौन था ? पंजाब और राजस्थान की किंवदंतियो के अनुसार यह शालिवाहन पंजाब के स्थान कोट

---

‡—जितने शालिवाहन के गुन मे पुन बोलाई लिये

†—'सौमण बरछी खेलादो ल्याऊरे वीर भैराऊ ."

नगर का राजा था। पुराने राजाओ मे चार शालिवाहनो का उल्लेख इतिहासो में मिलता है। एक बप्पा का वशज गुहिलोल शालिवाहन (लगभग १०३४ सं०), कबा का राजा शालिवाहन (स० १०६३ वि० विद्यमान) जैसलमेर के आधुनिक राजवश का एक अन्य पूर्व अति प्राचीन पूर्व पुरुष तथा उसी घराने का पुरुष (लगभग स० १२४५ वि०)। परतु प्रथम दो के सबध मे कही कोई बात ऐसी नहीं मिलती जिससे उनमें से किसी का सम्बन्ध चौरगीनाथ से घटित हो। इससे उनके सम्बन्ध में विचार छोडना पडना है। और एक ही शालिवाहन का इस सम्बन्ध में विचार करना शेष रह जाता है।

किवदतियो के शालिवाहन को टॉड और मुहणोत नैणसी दोनो जैसलमेर के राजवश का बहुत पूर्व पुरुष मानते हैं।† यह राजवश पजाब से राजस्थान मे आया था। शालिवाहन के रसाल, बालद, धर्मांगद, साहब इत्यादि १५ पुत्र माने जाते हैं।* कहते हैं, इसी ने स्यालकोट बसाया था जिसका प्राचीन नाम सालभानपुर था। नैणसी ने भी शालिवाहन को रसालू का पिता कहा है।‡ जैसलमेर के राजवश में जोगियो का अब भी बड़ा मान है। वहाँ जब नया रावल (राजा) पाट बैठता है तो वह जोगिया बाना पहनता है, यद्यपि नैणसी ने इस प्रथा का आरभ बहुत पीछे देवराज भाटी के समय से बताया है।×

एव शालिवाहन को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में कोई अडचन नही और चौरगी से भी उसका सम्बन्ध सीमा के अतर्गत है। परन्तु शालि-वाहन के समय का सीधा कोई अनुमान नही लगाया जा सकता। टाड ने उसका समय स० ७० वि० माना है। परन्तु इसका कोई प्रमाण नही। उसके एक वशज देवराज भाटी का उल्लेख जोधपुर से मिले राजा बाहुक के एक शिलालेख में हुआ है।÷ यह शिलालेख स० ८९४ वि० चैत्र सुदी ५ का लिखा है। इसके अनुसार बाहुक के पाँचवे पूर्वज शिलुक ने देवराज भाटी को हराया था। बीच के चार राजाओ के लिए २०-२० वर्ष का अतर रख कर गहलोत ने स० ८१४ वि० शिलुक का और तदनुसार देवराज भाटी का

---

†—नैणसी ख्यात भा०२, पृ० २६०।

*—गहलोत राजस्थान का इतिहास, भा० १, पृ० ६५०।

‡—नैणसी ख्यात, भा० २, पृ० २६०।

×—वही पृ० २३६।

÷—ज० रा० ए० सा० १८९४, पृ० ४६।

समय माना है। और इसी हिसाब से सात पीढ़ी पहले भाटी का समय ६८० वि० ठहराया है। राजा भाटी के नाम से जो संवत् चला उसमें और विक्रमी सं० में ६८० का अंतर है। इससे भी भाटी का समय ६८० वि० ठहरता है। नैणसी ने भाटी को शालिवाहन का पुत्र और रसालू का बड़ा भाई माना है। पर अन्यों के अनुसार दोनों के बीच में दो पीढ़ियाँ हैं। इस प्रकार शालिवाहन का समय ६४० वि० हुआ।

इस संवत् के विरुद्ध एकाध बात प्रस्तुत की जा सकती है। एक तो यह कि संवतों के साथ किसी व्यक्ति का नाम उनके आरंभ होने के बहुत बाद जुड़ता है। जैसे शक संवत्सर के साथ आंध्रराजा शालिवाहन का नाम १४११ वि० के आस-पास जुड़ा।‡ इसी प्रकार राजवंशावलियों में बहुत से पुराने नाम केवल कल्पित हुआ करते हैं जिससे उनका मूल बहुत पुराने समय में जा पहुँचता है।

उपर्युक्त पहाड़ी मंत्रों में एक और बात लिखी है, जो इस संवत को सही मानने के विरुद्ध जाती जान पड़ती है। वह यह कि चौरंगीनाथ के सेवकों (शिष्यों) में हिन्दू मुसलमान दोनों थे।† यदि इस कथन में कुछ तथ्य है तो चौरंगीनाथ सातवीं शताब्दी के नहीं हो सकते। सं० ७६९ वि० में सिंध में भारत पर मुसलमानों का पहला आक्रमण हुआ। इसके बाद सं० १०५० के लगभग फिर पश्चिमोत्तर से आक्रमण होने लगे। अतएव यही समय लगभग ऐसा है जिसमें पंजाब में मुसलमानों का होना माना जा सकता है। चौरंगीनाथ का भी लगभग यही समय मानना चाहिए। यद्यपि शालिवाहन का समय ७२ विक्रमी माना है फिर भी उसके सम्बन्ध में उसने लिखा है कि शालिवाहन ने दिल्ली के तंवर राजा जयपाल की कन्या से विवाह किया था। जयपाल का यही समय है। सं० १०५० वि० में वह विद्यमान था। इस समय के आस पास वह सुबुक्तगीन से भिड़ा था। हो सकता है कि शालिवाहन पहला और दूसरा दो व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति के दो रूप हों जो न तो इतने बाद में हुआ हो, जितने बाद में (१२४५ वि०) दूसरे शालिवाहन का होना बताया जाता है और न इतने पहले जितना पहले का (६४० वि०)। चौरंगीनाथ के नाम से हिंदी में जो एक मंत्र है उनका आवाहन यों किया गया है—

---

¹—[illegible] राजस्थान का इतिहास भा० १, पृ० ६५१।

‡—ओझा प्राचीन लिपिमाला [illegible] संस्करण पृ० १७२।

†—हिंदू तुरक दुइ सेवा लगाई [illegible]

"श्री संतोषनाथ वीर भैराऊँ नदी पार चौरंगीनाथ वीर भैराऊँ खंतड़िया-गुदड़िया बाज" चौरंगीनाथ वीर भैराऊँ' इससे पता चलता है कि उनका आश्रम कही नदी पार था और वे सतोषनाथ और खतडिया बाबा या गुदडिया बाबा कहकर भी पुकारे जाते थे। सतोषनाथ स्तोत्र मे सतोषनाथ नव नाथो में से एक माने गये हैं। कथाधारिन् गोरक्ष आदि अन्य कुछ सिद्धो के साथ सावर मत्र में कापालिको में से गिने गये है। सुकेत रियासत में सतलज के उस पर गोदड़िया बाबा की गुफा बताई जाती है।

यह द्रष्टव्य है कि गोरख, मीन, चर्पट और जलधर के साथ कथाधारिन नाम तो सावर तत्र में है किंतु संतोष या चौरगी नही। इसी तरह नवनाथो में चौरगी नाम नही है। चौरगी सरीखे सिद्ध का नवनाथो मे लिया जाना कुछ आवश्यक सा जान पड़ता है। नाथ-पथ मे कथड और चौरगी दोनो नाम आते है, किंतु कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती जिससे यह पता चले कि दोनो एक ही के नाम हैं। कम-से-कम यह असभव नही कि सतोषनाथ चौरगी का ही दूसरा नाम हो। सबदियाँ मिलती है, वे भी उन्हे बहुत पुराने समय मे ले जाने के पक्ष मे नही है क्योकि उनका रूप बहुत पुराना नही है। मत्रो में यह भी लिखा है कि उन्होंने अपने जेठे भाई का कटा सिर जुडा दिया था।+ और ये सिद्धि लाभ कर ज्योति स्वरूप हो गये थे। भूत-प्रेत-वीर-वेताल और व्याधि सबके ऊपर इनका अधिकार बताया गया है और उनसे रक्षा पाने के लिए उनकी दुहाई दी जाती है। इनकी शक्ति (अरधगी) का नाम हसावदनी बताया गया है। सभवत: यह उसकी स्त्री नहीं; सिद्ध या देव रूप प्राप्त हो जाने पर जनता द्वारा-कल्पित शक्ति है।

किवदतियो में गोरखनाथ इसके गुरु माने जाते हैं। 'गोरख-चौरंगी गुष्टि' में गोरख चौरगी को गुरु और चौरंगी गोरख को गुरु कहकर संबोधित करता है। प्रश्न गोरखनाथ पूछते हैं और उत्तर चौरगीनाथ देते हैं। किंतु उसमे चौरगीनाथ सबसे ऊँचा स्थान जती गोरखनाथ का बताते है। जान पडता है कि यह 'गुष्टि' चौरगीनाथ के सिद्धि लाभ करने के बाद की अवस्था बताता

+ जिनने जेठा भाई का काटा सीस लौटाई लिया।" जिनने चावन सौ बेडा बावन वीर को वाण मंघारी लीया देवता राखे दृष्टी कर लिया अरधगी देवी हसावदनी रुवा चौरगीनाथ वीर भैराऊँ तेरे घटपिंडा तू रख ले बाबा तेरी चौकी तेरी इच्छा।' 'श्री [illegible] (१८) बुद्ध जोतगण

है, जब गुरु और शिष्य का भेद नहीं रह जाता। इसी से गोरखनाथ चौरंगी को गुरु कहकर पुकारते हैं। और वास्तविक गुरु गोरख थे, इससे सबसे ऊँचा स्थान गोरखनाथ का कहा गया है। यह गुष्टि चौरंगीनाथ की साधना मे क्रमशः ऊपर उठने की कथा सी लगती है। धार्मिक रंग को लिये हुए भूगोल-खगोल का यह वर्णन नाथ साहित्य में निराला ही है। एक लोक से ऊपर चढ दूसरे लोक में चढ़ते हुए सबसे अंत मे वे अन्हदपुर पाटण में पहुँचते हैं जहाँ अवलागिरि पर्वत पर अनुपमहल (स्थल) में अटल वृक्ष की अटल छाया मे गोरखनाथ बैठे हैं। और फिर बताते हैं कि उतरते हुए किस-किस लोक से उन्होने क्या लिया। इसका रचयिता कौन है, नही कहा जा सकता। इसकी जो प्रति मेरे सामने है वह सं० १८६९ वि० की लिखी हुई है।

तंज्यूर में चौरगी का नाम उल्लिखित है, जहाँ वे वायुतत्त्व भावनोपदेश नामक ग्रथ के रचयिता बताये गये हैं। हिंदी में उनकी चार छोटी-छोटी सबदियाँ मिलती हैं। जो बहुत समय तक परपरा से कानो-कान चली आने के कारण सपूर्ण रूप में उतनी पुरानी नही हो सकती जितने स्वयं चौरगी रहे होगे। जान पड़ता है कि ये सबदियाँ दादू के शिष्य रज्जब के समय में लिपि-बद्ध रूप में विद्यमान थी। उन्होने अपने सर्वांगी नामक अपने वृहत् सतवाणी सग्रह में नाथ सिद्धों की बानियो को भी स्थान दिया है। जोगियो की बानी का सबसे प्राचीन विद्यमान संग्रह स० १७१५ वि० का है जिसमे गोरख की बानी संगृहीत है। लगभग यही समय सर्वांगी का है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे पहले भी योग बानियाँ लिखित रूप में रही होगी। परंतु स्पष्ट प्रमाण कोई मिलता नही है। निश्चित रूप से यह भी नही कहा जा सकता कि सबदियो मे जो अतर आया होगा, वह भाषागत ही है या भावगत भी। यह आशा कर सकते है कि इनमें अर्थ-सबधी कोई परिवर्तन यदि हुआ होगा तो बहुत कम। इन सबदियो से पता चलता है कि इनका कर्ता सब ज्ञानो के मूल उस निरजन निराकार का उपासक था। जिसके सफल सेवन से शाखा-धर्म अपनी चिंता आप करते हैं, उनके सबध में सचेष्ट रहने की आवश्यकता नही रह जाती। पवन के अभ्यास, मन मारण, पचतत्त्व वशीकरण, प्रत्याहार आदि से उसने सब साधनो के परिणाम रूप उन्मनी समाधि को सिद्ध कर लिया था और इस प्रकार आवागमन से दूर हो गया था। उनकी ये सबदियाँ यहाँ दी जाती हैं:—

मूल सीचौ रे अवधू मूल सीचौ, ज्यौ तरबर मेल्हत डारं।
अम्हे चौरगी मल सीचिया, यू अनभै उतारिया पार॥ १॥

मारिबा तौ मन-मीर मारिबा, लूटिबा पवन भडारं।
साधिबा तौ पचतत साधिबा, सेइबा निरजन निराकार ॥ २ ॥
अगनी सेती अगिन जालिबा, पाणी सेनी सोषिबा पाणी।
बाई सेती बाइ फेरिबा, आकासि मुषि बोलिबा बाणी ॥ ३ ॥
माली लो भल मल्ल माली लो, सीचै सहज कियारी।
उनमनि कला एक पहुप निपाइ ले, आवागवन निबारी ॥ ४ ॥

नोट पाठातर—'मन मस्त हस्ती'

हमारी कला और शिक्षा

सभ्यता-संस्कृति का तारतम्य हो

१९४० ई० की कोटद्वार ग्रामसुधार प्रदर्शिनी के अवसर पर कला और शिक्षा-विभाग की प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते समय डा० बडथ्वाल ने यह लिखित भाषण दिया था। यह हमे इस विभाग के संयोजक महोदय के सौजन्य से प्राप्त हुआ है, जिसके लिए हम प्रदर्शिनी कमेटी के आभारी है।)

सम्पादक।

आप लोगो ने मुझे कला और शिक्षा-विभाग की प्रदर्शिनी के उद्घाटन के लिए निमन्त्रित कर मेरा जो सम्मान किया है उसके लिए मै हृदय से कृतज्ञ हूँ। आपके निमंत्रण को स्वीकार करते समय मैने इस बात की चिंता नही की कि मै इस पद के योग्य हूँ या नही। मैने केवल आपकी आज्ञा-पालन का विचार किया। मुझे इस काम के लिए बुलाकर आपने अच्छा किया हो या नहीं, किन्तु इसमें सदेह नहीं कि उद्योग की प्रदर्शिनी के साथ शिक्षा और कला का विभाग जोडकर आपने बहुत अच्छा किया है।

उद्योग-धधो की आजकल अत्यन्त आवश्यकता है। हमारे देश की जो हीन दशा है, बेकारी जितनी बढी हुई है देश की सम्पत्ति का जिस वेग से ह्रास हो रहा है उसे देखते हुये उनके प्रोत्साहन के लिए विशेष जोर देना आवश्यक है। परन्तु इसके साथ वह भय भी बना रहता है कि कही ऐसा न हो कि लोगों की दृष्टि एकागी हो जाय, शरीर की आवश्यकताओ पर जोर देकर कही आत्मा की आवश्यकता की उपेक्षा न हो जाय। जैसा अगरेजी की कहावत है मनुष्य रोटी ही से नही जीता है। उसके पेट की भूख बुझाना ही जरूरी नहीं, उसे सुख और सुभीते देना ही आवश्यक नहीं, उसके मनकी आग को भूख बुझाना भी उतना ही जरूरी है। उस ओर जहाँ आपने शरीर की भूख को सुभीते से शात करने के उपायो का प्रदर्शन किया है वहाँ इस ओर आत्मा की आवश्यकताओ का भी ध्यान रखा है। उस ओर शरीर को सुख देने के

उपस्कर है तो इस ओर मन की वृत्तियों को सुकुमार बनाने की सामग्री। वहाँ सभ्यता है, यहाँ संस्कृति।

सभ्यता और संस्कृति दोनों अगल-बगल चलनी चाहिए। दोनों में तारतम्य की रक्षा जीवन के लिये आवश्यक है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं एक दूसरे के अस्तित्व के लिये आवश्यक हैं। सभ्यता का मूल चाहे जो हो आज जैसी परिस्थिति है उसमें सभ्यता उन्हीं साधनों का समवाय समझी जाती है, जिनके द्वारा मनुष्य के रहन-सहन का ढंग ऊँचा तथा सुख और सुवासमय हो। इस साधन से समस्त समाज में संस्कृति का भी अच्छा विकास होता है। समृद्धि और सम्पन्नता कलाओं के विकास के लिये अत्यन्त अनुकूल अवस्था है। जब तक शरीर की प्राथमिक आवश्यकतायें ही अभी अपूर्ण हों तब तक कला की ओर ध्यान ही कैसे जा सकता है? 'क्षीणा नरा निष्करुणा भवति' किसी ने यों ही नहीं कहा है। इसी प्रकार सभ्यता को सभ्य बनाने के लिए भी यह आवश्यक है कि वह संस्कृति के साथ सामंजस्य बनाये रखे, जिसके बिना सभ्यता वही राक्षसी रूप धारण कर लेती है जिसका ताण्डव कभी रावण की लंका में था और आज यूरोप में है।

ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों ऐसी परिस्थितियाँ आती जाती हैं कि हृदय की कोमल वृत्तियों का अभ्यास नहीं होने पाता। ऐसे अवसरों पर कला ही जीवन और जगत् की नाना प्रकार की परिस्थितियों से सौंदर्य बटोर कर मनुष्य के सामने रख देती है, जिससे उसे वृत्तियों की कोमलता का अभ्यास बनाये रखने में सहायता मिलती है। जो वस्तु उसे जीवन में नहीं मिलती उसे वह कला में प्राप्त करता है।

यह भूमि सदा से तपोभूमि रही है। औद्योगिक सभ्यता का क्रम यहाँ रहा हो या न रहा हो, किन्तु यह निश्चय है कि कला के मूल में जो निस्वार्थ भावना रहती है, वह प्रचुर मात्रा में यहाँ विद्यमान है। निसर्ग ने इस भूमि को सौंदर्य की खान बनाया है। इसलिये स्वभावतया यहाँ कवियों और कलाकारों की कोई कमी नहीं रही है और न आज है, यह हमारे लिये गौरव की बात है।

मध्यकाल की सांस्कृतिक सुषुप्ति के युग में पहाड़ी कलाकार ही कला के भारतीयपन को जागरित रख सके हैं। काश्मीर से लेकर गढ़वाल तक के प्रदेश में कला की एक लहर चलती रही है, जो भारतीयता के लिए प्रसिद्ध है। काश्मीर, काँगड़ा, चम्बा नूरपुर, गुलेर, सुकेत आदि पहाड़ी राज-दर्बारों में जिसका प्रचलन रहा उसने कभी भारतीयता को नहीं छोड़ा। प्रतिच्छवि

की यथार्थता और भाव की आदर्शता ये दोनो पहाडी शैली की विशेषतायें है। पहाडी चित्रकार भावुक होते है, उनके बनाये चित्र दर्शको के हृदय मे रस का उद्रेक करते है। उनकी कृतियाँ बड़ी अर्थ भरी और सजीव होती है उनकी रेखा-रेखा में जीवन का स्पन्दन होता है और उनमे उन प्रतिभा के दर्शन होते है, जो प्रतिपल नवोन्मेष प्राप्त करने वाली रमणीयता का उत्पादन करती है। उनके विषयो का क्षेत्र विस्तृत है। मानव-जाति के सभी भावो को चित्रित करने मे उन्होने सफलता पाई है।

गढ़वाल ने भी इस पहाड़ी कला की सफलता में योग दिया है। मोला राम को जो यश प्राप्त है वह इस बात का साक्षी है। मोलाराम को गढवाल की कला का प्रतीक समझना चाहिये। उनकी कृतियो ने जगत को मोहित कर दिया है। उनके नाम से जो रचनायें मिलती है उनमे बडा विषय-विस्तार है। उनके अन्तर्गत नायिकाभेद, पौराणिक विषय आदि-आदि के चित्र उन्होने चित्रित किये है। जिन बातो को कवियो ने अपनी साहित्यिक रचनाओ मे नही दिखा पाया है उनको मोलाराम ने रेखाओ और रगो मे दिखा दिया है। वे स्वय कवि थे। साहित्यिक शब्द-चित्रो को उन्होने बड़ी सफलता के साथ अपने चित्रो मे जीवन-दान किया है। रगो के मिश्रण मे मोलाराम बडे कुशल जान पडते है, विशेषकर सुनहरे और हरे रग के सम्मिश्रण में। परन्तु मोलाराम के नाम के नीचे न जाने कितने कलाकार दबे हुए है। जितने चित्र मोलाराम के नाम से मिलते है, सब उनके चित्रित किये हुए नही है। स्वय मोलाराम का घराना चित्रकारो का घराना था परन्तु उनके बाद के उनके कुल के चित्रकारो का परिचय हमें प्राप्त नही है। चैतू, माणकू इत्यादि गढवाली चित्रकारो के नाम सुने जाते है, किन्तु उनके विषय में भी हमें कोई ज्ञान नही। अब हम लोगो का कर्तव्य है कि इस बात की खोज का प्रयत्न करें कि मोलाराम के पीछे अथवा पहले कौन-कौन कलाकार हुए और उन्होने कला को क्या-क्या दान किया ?

यह बडे हर्ष का विषय है कि आज भी गढवाल में कला का अभाव नही है। आचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने अजता की शैली से प्रेरणा पाकर जिस आदर्श, भावनामय, नवीन, भारतीय कला को जन्म दिया है उसके सत्प्रभाव में लखनऊ आर्ट स्कूल से गढवाल के युवको का भी एक समुदाय निकल रहा है, जो निश्चय ही गढवाल की पुरानी चित्रकला को नया रूप प्रदान कर रहा है। यह समुदाय जिस उत्साह, परिश्रम और प्रेरणा से काम कर रहा है, वह प्रशसनीय है। उनकी कृतियाँ बहुत उज्ज्वल भविष्य

की ओर संकेत करती है। सतोष का विषय है कि उनको स्थानीय ही नही बाहर के प्रान्तों मे भी सम्मान प्राप्त हो रहा है। मुझे पूर्ण आशा है कि इन युवको के रूप मे हम मोलाराम का नया रूप देखेगे।

यहाँ मुझे शोक के साथ यह कहना पड रहा है कि इन्हीं युवको मे से एक को परम चित्रकार परमात्मा ने अपने मे उठा लिया है। वे थे प० मनोरथ-प्रसाद जोशी। मनोरथ जी के चित्र बड़े सुन्दर हुआ करते थे, पत्र-पत्रिकायें उन्हे बड़े सम्मान के साथ छापती थी। 'वनदेवी' और 'दीपावली' उनके उच्च श्रेणी के चित्र है और वे गढवाल के चित्रकारी के इतिहास मे अपना उचित स्थान प्राप्त करेंगे। खेद है कि उनसे जो बडी-बडी आशायें बँधी थी, वे निष्ठुर नियति द्वारा बीच ही में तोड दी गई। मुझे विश्वास है कि गढवाल में चित्रकला की उन्नति देखकर उनकी आत्मा बडा सुख पायेगी।

चित्रकला में गढवाल और तरह से भी अच्छा स्थान प्राप्त कर रहा है। गढवाल से सम्बन्ध रखनेवाले विषय भी कला के लिए खूब लिये जाने लगे है। कुछ बाहरी चित्रकारो को इसमे काफी सफलता मिली है। पर मै समझता हूँ कि इस दिशा में गढवाली स्वय जो सफलता प्राप्त कर सकते है वह बाहरी लोग नही प्राप्त कर सकते। गढवाली, गढवाल की आत्मा मे प्रवेश कर उसके जीवन को जितने भीतर से देख और समझ सकता है उतना बाहरी नही। इसलिये युवक चित्रकारो से मेरा अनुरोध है कि वे गढवाल के जीवन की अपने चित्रो-द्वारा व्याख्या करें।

एक बात और कह दूँ। अब तक पहाडी चित्रकला की यह कमी रही है कि एक-चक्षुचित्रो मे ही सफलता प्राप्त कर सकी है। द्विचक्षु यदि कही मिलते भी है तो उनमें उसको सफलता प्राप्त नहीं हुई है। रेखाकन, वार्णिकता और खुलाई इतनी विकसित नही थी कि उसमे सामने की द्विचक्षु मुखाकृति दिखाई जा सके। अर्थात् गढवाली चित्रकारी में यथार्थता का भाव विद्यमान होते हुए भी उसमें यथार्थता को प्रदर्शित करने के पूरे साधनो की सिद्धि नही थी। पाश्चात्य चित्रकारी में यथार्थता का विशेष आधार है। मै समझता हूँ कि अपनी आदर्श भावुकता का बिना हनन किये हुए उसको बढाने के लिये जितनी पाश्चात्य यथार्थता का हम प्रयोग कर सके उतनी यथार्थता का प्रयोग होना चाहिए। चित्रकला का भविष्य गढवाल मे बहुत आशाजनक है—इसमे कोई सदेह नहीं।

किन्तु चित्रकला ही एकमात्र कला नही है। काव्य कला, सगीत तक्षण और वास्तु कलाओं का भी पूरा विकास होना चाहिए। काव्यकला का विकास

यहाँ चित्रकला के ही सदृश काफी बढ रहा है । प्रकृति की गोदी में जो कोमल हृदय हमने पाया है उसके परिणामस्वरूप कवि की मर्मानुभूति हमने बडी अच्छी तरह पायी है । आजकल हमारे बीच मे कई सुन्दर कवि और लेखक विद्यमान है । आज तक परिस्थितियो की जटिलताओ के कारण कभी-कभी हमारी काव्य-प्रेरणा सो जाया करती थी, किन्तु कुछ समय से यह देखा जा रहा है कि गढवाल की काव्य-साधना एक स्थायी वस्तु होने जा रही है और वह साहित्य की अभिवृद्धि मे उसे सम्पन्नता प्रदान करने में काफी सफल होगी ।

परन्तु सगीत का हमारे यहाँ से प्रभाव हटता जा रहा है, यह खेद की बात है । प्राचीन तक्षण-कला और वास्तु कला के हमारे यहाँ काफी अच्छे उदाहरण है, जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए ।

यह भी बडी प्रसन्नता की बात है कि हमारे यहाँ शिक्षा का, विशेषकर प्राथमिक शिक्षा का अच्छा विकास है । परन्तु माध्यमिक शिक्षा के लिए काफी साधन यहाँ विद्यमान नही है और उच्च शिक्षा प्राप्त होने के यहाँ साधन ही नही है । यहाँ सार्वजनिक प्रेरणा से दो चार और भी सार्वजनिक हाई स्कूल खुलने चाहिएँ और एक डिग्री-कालेज का हम लोगो को आदर्श ही नही रखना चाहिए, प्रत्युत उसके लिए काम भी प्रारम्भ कर देना चाहिए ।

परन्तु शिक्षा को केवल पोथी-पत्रो का आखरी (अक्षर-वाला) व्यापार ही न समझना चाहिए । शिक्षा है भीतर छिपी हुई वास्तविक मानवता को बाहर खीचना । वह हमको अधिक सजीव मानव बनाती है, हम में आदमीयत भरती है । अहकार से मानवता को दबा देने वाला अक्षरी ज्ञान ज्ञानशिक्षा नही है । आजकल की उलटी परिस्थितियो मे, जब कि बजटो मे शिक्षा को बहुत नीचा स्थान मिलता है तब शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न प्रशसनीय है ।

परन्तु मेरा विनम्र निवेदन है कि यह अवस्था आजकल की परिस्थिति में ही प्रशसनीय कही जा सकती है, उसका आपेक्षिक महत्त्व मिलना चाहिए, सर्वकालीन निरपेक्ष महत्व नही । आशा है कि अपने आपको शिक्षा देने के व्यय के भार को सदा के लिए निरसहाय शिशु के असमर्थ कधो पर ही नही छोड दिया जायेगा । और राष्ट्र अपने प्रत्येक भावी नागरिक को शिक्षित बनाने के अपने उत्तरदायित्व को साहस के साथ अपने ऊपर लेगा । कोमल शिशु की शिक्षा के द्वारा यदि कुछ कमी भी हो जाय तो शायद बुरा नही

किन्तु यह सिद्धान्त, कि उसकी सिखाई से जो कमाई हो उसी से उसकी शिक्षा हो जाय, यह अनुचित और असम्भव है !

यह देखकर मुझे अत्यन्त हर्ष है कि हमारे यहाँ थोड़ी बहुत जितनी भी शिक्षा है उसमें जीवन के लक्षण है, जिसके यहाँ काफी प्रमाण है। और यह बहुत श्रेयस्कर है; क्योकि शिक्षा सभ्यता और सस्कृति दोनो की आधार-शिला है।

मै इस शुभ कामना और प्रार्थना के साथ शिक्षा और कला-विभाग की प्रदर्शिनी का आप लोगो के आदेश से उद्‌घाटन करता हूँ जिससे कि इसके द्वारा शिक्षा और कला की अनत उन्नति का द्वार उघड जाय।

'मेल्णो' की जीवन-कथा

मै आपको किसी मनुष्य की नही एक शब्द की जीवन-कथा सुनाने जा रहा हूँ। शब्द भी मनुष्यो से किसी बात में कम नही। उनका अपना अलग व्यक्तित्व और अलग इतिहास होता है। मनुष्यो ही की भाँति कभी उनका उत्कर्ष होता है, कभी अपकर्ष, कभी अर्थ संकोच हो जाता है कभी अर्थ विस्तार। मायावी तो वे बहुत बड़े होते है। वेश बदले हुए ऐसे घूमा करते है कि भेदू ही पहिचान पाते है और कभी-कभी वे भी धोखा खा जाते है। अपनी लम्बी जीवन यात्रा मे उन्हे जो कुछ ऊँच-नीच देखना पडता है वह झीने वातावरण के रूप में कर्म-सचय के समान उनके साथ लगा चलता है। यही वातावरण उनके व्यक्तित्व को बनाता है जिसको एक ही दीठ मे समझ लेना कठिन होता है। उनके जीवन के विभिन्न पक्ष विभिन्न परिस्थितियो में खुलते है। उनके भविष्य-विकाश में उनके अतीत का भी हाथ रहता है। अतएव शब्दो को भली-भाँति समझने के लिए उनकी जीवन कथा जानना आवश्यक हो जाता है।

यहाँ मै गढवाली बोली के एक शब्द की जीवन-गाथा सुनाना चाहता हूँ। यह शब्द है 'मेल्णो'। कही-कही इसका उच्चारण 'मेल्नो' भी होता है। इसका खड़ी बोली का रूप होगा 'मेलना'। यह क्रियापद है। गढवाली में इसका अर्थ होता है खोलना, सब प्रकार का खोलना नहीं, जैसे द्वार खोलना 'मेलना' नहीं है, केवल बँधे हुये पशुओ को खोलना, पोटली–गठरी इत्यादि खोलना, और दूसरे गाँठ खोलना।

उच्चारण, शब्दावली और रूप रचना की दृष्टि से गढवाली राजस्थानी की बहिन है। यह शब्द भी राजस्थानी मे मिलता है। राजस्थानी में इसके उच्चारण में कुछ अन्तर है। वहाँ (ल्) या तो सस्वर (ल) है या स्वर (अ) और (ल्) के बीच मे (ह्) आ जाता है।–मेलइ, मेल्हइ। मुझे बताया गया है कि वहाँ बोलचाल मे इसका अर्थ प्रयोग 'छोडना'–डालना के अर्थ मे होता है। इसका राजस्थानी साहित्य में भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। 'ढोला मालवणी कथा में इसका प्रयोग तीन अर्थो में हुआ है–(१) छोडना

(२) डालना-रखना और (३) छोडना-अलग करना (४) छोड़ना-मारना या देना (५) छोडना—भेजना ।

(१) छोड़ना—अबही मेली हेकसी, करले काइ कलाप् (ऊंटनी को मैंने अकेली छोडा है, वह विलाप कर रही है (३२३) मे चाल्या सूती मेलि' सोती हुई छोड कर चले—३१० । 'तिण रित मेलै मालवणि प्री परदेश म जाय'—२६६ । उस ऋतु में मालवणी को छोड़ कर हे प्रिय, परदेश मत जाओ । 'काली कंठलि बादली बरसि ज मेल्हइ बाउ—२६७ । काली कंठुली वाली बदली बरस कर हवा को छोड रही है ।

'सेज रनंता मारवणी खिणा मेल्हणी म जाइ'—५६१ सेज पर रमते हुए प्रति के द्वारा मारवणी एक क्षण भी छोड़ी नहीं जाती । 'गया धुंकती मेल्ह' १६३ मुझे धधकती हुई छोड कर चला गया । 'तिण रुति साहिब बल्लहा, को मदिर मेल्हंत—२४७' । उस ऋतु में हे स्वामी, भला कोई घर छोड़ता है ? सुबइनिचती मारुइ ढीला मेल्ह अम' —६०८ । मारवणी अंगों को ढीला छोड़ कर निश्चित होकर सो जाती है । 'कुरजी बच्चा मेल्हिकइ-दुरि थवां पालेत'—२०२ । अपने बच्चो को छोड़ कर भी दूर रहती हुई पालती है ।

(२) डालना-रखना—'किस गुण मेल्ही वीण'—५६६ । क्यो वीणा रख दी ? 'तिण हँसि मेल्ही वीण'—५७० । उसने हस कर वीणा रख दी । 'जिण रुति बग-पावस लियइ धरणि न मेल्हइ पाइ'—जिस ऋतु में वर्षा के कारण बगुले भी पृथ्वी पर पॉव नही रखते ।

(३) छोड़ना—अलग करना—'दूरा हुता तउ पलइ जऊ न मेल्ह हियाह'—२०३ । जो हृदय से अलग न कर दिये जायें तो दूर होने पर भी [बच्चे] पलते हे । 'मनि हूं खिणहिता मेल्हियि चकवी दिणियर जेन '—७२ उनको एक क्षण के लिए भी मन से अलग नहीं करना चाहिए जैहे चकवी सूर्य को ।

(४) छोड़ना- (ध्वनि के सम्बन्ध मे) मारना या देना—'मारू दीठा सास तिण मोटी मेल्हइ धाह—६०६ मारवणी को बिना सांस का देखकर बड़ी धाड़ मारती (रोती) है । 'बैन रै प्रहरे रैण के कूकड मेल्ही राति'—रात के चौथे पहर में मुर्गे ने बॉग दी ।

(५) छोड़ना-भेजना—दूती मेल्हइ नारि—३३१ । वह स्त्री दूती भेजती है । राठौड़ राजा पृथ्वीराज की 'कृष्ण-रुक्मणी री बेलि में भी इस

क्रिया का प्रयोग भेजने के अर्थ में हुआ है । 'राज लगे मेल्हियो रुक्मणी समा-चारइण सहि साहि' ।–५६ राजा (आप कृष्ण) के लिए [यह पत्र] रुक्मणी ने भेजा है। इसमें सब समाचार है ।

आधुनिक राजस्थानी रचनाओ में भी इस क्रिया का प्रयोग मिलता है । शिवसिंह ने अपने 'सरोज' में विजयसिंह नामक एक कवि का उल्लेख मिलता है । जिन्हें उन्होंने जयपुर का राजा बताया है । उनकी कविता के एक उदा-हरण में यह क्रिया छोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त हुई है ।

याद यते दिन आवे, आपा बोला हेल ।
भागे तीनो भूपती, माल-खजाना मेल ।।

सरोज पृ० ४६२ ।

परन्तु यह शब्द केवल राजस्थानी की विशेषता नही है । और जहां-जहां यह मिले वहाँ-वहाँ राजस्थानी का प्रभाव नहीं समझना चाहिए ।

मैथिल-कोकिल विद्यापति की पदावली में भी डालने के अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग हुआ है—'कत आके दैत्य मारि मुँह मेलल' ।—पदावली (बेनीपुरी) पृ०-६ । 'अनंग मंगल मेलि । कामिनि करथु केलि ।। (वही–२४६) देवी ने कितने ही दैत्यों को मारकर मुँह में डाल लिया । कामदेव के अर्थ मगल द्रव्य डालकर कामनियाँ क्रीडा करती है ।

सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में रामानन्द का एक पद संगृहीत है जिसमें 'त्यागने' के अर्थ में इस क्रिया पद का प्रयोग हुआ है । 'वेद सुमृत सब मेल्हे जोई' ।—वेद और स्मृतियो का अवलोकन कर उन सबको छोड़ दिया। कबीर ग्रंथावली में भी यह क्रिया मिलती है। उसमें इसका अर्थ छोडना तथा छोडना-डालना है ।—'सबही ऊभा मेल्हि गया राव रक सुलितान'–पृ० २१५ । 'बाती मेल्यूं जीव' । पृ० ९२३ जीव रूप बत्ती डाली ।

'दरिया पार हिंडोलना मेल्हा कंतम चाइ' ।–पृ० ८१—१ स्वामी ने दरिया पार (आध्यात्मिक आनन्द के लोक में) हिंडोला डाला । इसी अर्थ में सयुक्त क्रिया के रूप में भी इसका प्रयोग कबीर ग्रथावली मे हुआ है— 'तीरथ व्रत सब बेलडी सब जग मेल्ह्या छाइ' ।–पृ० ४४, ९ । तीरथ व्रत (माया की) बेल है, इसने ससार को छा डाला है ।

किंतु कबीर ग्रथावली के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि उसकी मूल प्रति राजस्थानी व्यक्ति के द्वारा लिखी गई है । और कबीर बानी के कबीर-ग्रंथावली के ढंग के सग्रह अधिकतर राजस्थान म ही मिलते ह ।

इसलिए उन पर भी राजस्थानी प्रभाव माना जा सकता है। परन्तु कबीर ग्रथावली में नही, जायसी, सूर और तुलसी की रचनाओं में भी यह क्रिया मिलती है, जिनके ऊपर राजस्थानी का कोई प्रभाव नही पडा । जायसी की रचनाओ में यह शब्द 'डालना' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

कुवहि खाँड बहु **मेलि** । पृ० ८१—१० ।
जलहुँन काढि अगिनि मँह **मेला** । पृ० ९३, २ ।
अब अस कहाँ द्वार सिर **मेलौं** । पृ० ९५, ६ ।
रकत पराये सेंदुर **मेलहु** । पृ० १०६, १३ ।
गुरक वचन स्रवन दुइ **मेला** । पृ० १०९, २० ।
जैसे चोर सेंध सिर **मेलहिं** । पृ० १११, १ । इत्यादि ।

सूर की रचना में भी डालना के अर्थ में उसका प्रयोग हुआ है—

साखा पत्र भये जल **मेलत**, फूलत फलत न लागी बार सू०, पृ० ५०५-१७३ ।

डालना पहनना के अर्थ में भी सूर की रचना में यह मिलता है—

उर **मेले** नँदराइ के गोप सरबन मिलि हार । पृ० ४२७, ६४५ ।

तुलसी की रचना में भी यही बात है—

छोड़ना—डालना—तुरत विभीषन पाछे **मेला** ।
सनमुख राम सहेउ सो सेला ॥
[मानस, काड ६ दो० ९४ अर्धाली २]

मनि मुख डारि **मलि** कपि देही—वही ६–११७–७ ।
सुता बोलि **मेली** मुनि चरना—वही १—६६—८ ।

डालना-पहिनाना—मेली कठ सुमन कै माला—वही ४ –८–७ ।

इन प्रकार हमने देखा कि मैथिली, पूरबी, अवधी, पछाहीं-अवधी, ब्रज और साधुओ की सर्वदेशी भाषा में तथा इन सबके प्रसिद्ध कवियो की रचनाओं में यह क्रियापद मिलता है। जान यह पड़ता है कि राजस्थानी ने, रामानन्द और कबीर की सर्वदेशी भाषा ने विद्यापति की मैथिली ने जायसी की शुद्ध-पूर्वी-अवधी ने, तुलसी की पछाहीं-अवधी ने और सूरदास की ब्रज ने इस क्रियापद को किसी एक ही मूल-स्रोत से पाया है, और वह है अपभ्रंश । जो तुलसीदास पर मराठी, बगला, राजस्थानी आदि का प्रभाव समझा जाता है, वह सच में अपभ्रंश की देन है जिसका प्रभाव कम से कम उत्तर भारत की उन सब भाषाओं पर था जो आज हिंदीक्षेत्र के अंतर्गत आती है। अपभ्रंश में भी यह

क्रिया मिल्लइ, मिल्लहिं के रूप में विद्यमान है। अपने उपदेश-रसायन-सार में जिनदत्त सूरि (लगभग १२०० वि०) ने इसका प्रयोग किया है—

जो गीयत्थु सु करइ मच्छरु।
मुनि जीवतु त मिल्लइ मच्छरु॥

(यो गीतार्थ स करोति न मत्सर।
साऽपि जीवन् न मुचति मत्सरम्॥)

घर वावारु सठ्ठा जिव मिल्लहिं।
जिव न कसाइहि ते पिच्छिज्जहिं॥

(गृह व्यापार यथा मुञ्चन्ति।
यथा न कसायैस्ते पीडयन्ते॥)

इन उदाहरणो में छोडने के अर्थ मे इस क्रिया का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार जिनदत्त जैन कवि थे। गुजरात में संभवत उन्होने अपने काव्य की रचना की। इसी प्रकार धुर पूरब की ओर विक्रम-शिला आदि स्थानो में जिन बज्रयानी सिद्धो ने अपने अपभ्रश (या उसके और आगे विकसित-अव-हट्ट) काव्य की रचना की उनकी रचनाओ में भी यह क्रिया मिलती सरोज वज्र या सरहपा की रचना में दो रूपो मे यह आई है—'मेलि' और 'मेलह दोनों विधि के रूप है—

नौवाणी नौका टागुअ गुणे। मेलि मेल सहजें जाउ ण आणें॥३८।३।
माँझी जैसे नौका को चलाता है और रस्सी से खीचता भी है वैसी यह सहज नौका नहीं है। सहजानंद से युक्त होकर इस वाह्य-नौका को छोडो और अन्यत्र मत जाओ। अर्थात् सहजानंद में आवागमन नहीं है। फिर खीचा नही जाता।

एहु मन मेल्लाह पवन तुरंग खु चंचल।
सहज सहाव राव राइ होइ निश्चल॥

इस मन को और तुरग के समान चचल पवन को त्याग दो। (जो ऐसा करता है) वह निश्चल होकर सहजानद स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है।

'सहजाम्नाय पजिका' नामक टीका में पहले का अर्थ 'परित्याग कुरु' और दूसरे का 'त्याज्यं कुरु' दिया हुआ है। अर्थात् दोनो का अर्थ हुआ "छोडो।"

सिद्धि भूसुक ने भी 'मेलि' का प्रयोग टीका के शब्दो में 'विहाय' अर्थात छोड़कर किया है।

काहे रि धिनि मेलि अच्छत्तु कीस।
बेटिल हाक पड़ऊ चौदीस ॥६।१।

कण्हपा ने 'मेलई' के रूप में परित्यजति के अर्थ इस क्रिया का प्रयोग किया है।

केहे रेहो तो होरे विरुआ बोलई।
विदुजण रो अतोरे कठन मेलई ॥ च० १८।४।

कोई-कोई (तुम्हारे शक्ति डोम्बी के) विरुद्ध बोलते हैं किंतु जो ज्ञानी लोग हैं वे तुझे कठ से नहीं छोड़ते।

और कंबलास्वर पाद (कमलीपा) ने 'मेलिल' के रूप में 'मुक्ती कृत्य' के अर्थ मे इसका प्रयोग किया है।

खुटि उपाडि मेलिलि काछि।
दाहतु कामलि सद्गुरु पुच्छि ॥ चर्या ८।३।

अर्थात् सब सामाजिक आदि बंधनो से मुक्त हो गये। और सद्गुरु की अनुमति से कम्बल, योगीश्वर का बाना धारण कर लिया।

सरल और भुसुक पूरब के, जण्हपा कर्णाटक् के और कबलास्वर उड़ीसा के रहनेवाले कहे जाते हैं। सबने विक्रम-शिला के बज्रयान तान्त्रिक प्रभाव को ग्रहण किया। ये धर्मपाल (७६९-८०९) या देवपाल के सम-कालीन समझे जाते हैं। एक हजार विक्रम के आस-पास इनका समय माना जा सकता है।

बज्रयानी सिद्धो के उत्तराधिकारी नाथो की रचना में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। गोरख की बानी मे वह मिलता है। उसमे एक जगह मारने के अर्थ में उसका प्रयोग हुआ है--

ले मुदिगर की सिर मे मेले--सबदी ७५।

परंतु इस क्रिया का मूल अपभ्रंश से भी पीछे स्वय सस्कृत में मिलता है। और वह है मिल धातु का रूप मेलयति जिसका अर्थ होता है मिलाना। मिलाना जिसका अर्थ हो उस शब्द से छोडना, डालना, अलग करना, भेजना, मारना, खोलना अर्थ निकले, यह पहले-पहल आश्चर्यजनक जान पडेगा। किंतु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। विश्वश्रवा के रावण हिरण्यकश्यप के प्रह्लाद शब्दो में भी होते हैं। शब्दो की माया विचित्र होती है। नवीन साहचर्य से वे क्या से क्या अर्थ देने लगते है। सस्कृत भद्र (श्रेष्ठ, साधु) से हिंदी भद्दा (कुडौल) और सम्कृत साहस (डकैती इत्यादि) से हिंदी

साहस (हियाब) इसके प्रसिद्ध उदाहरण है ।[१] यही दशा इस क्रिया की भी हुई जान पड़ती है । मेरा अनुमान है कि मेलयति से निकले इस क्रिया पद का प्रयोग पहले किसी ऐसी क्रिया के संबध मे हुआ जिसमें छोडने, डालने, का व्यापार भी साथ मे होता हो । जैसे घोल बनाने के लिए रासायनिक कणो को द्रव-प्रदार्थ में डालने, दाल में नमक छोडने, शर्बत बनाने में पानी मे चीनी डालने इत्यादि मे होता है । सस्कृत 'मेलयति' और अपभ्रंश 'मिल्लई' के बीच पहले इसी प्रकार का प्रयोग हुआ होगा, यह अनुमान होता है ।

अब इस शब्द की जीवन-यात्रा को हम थोडे में यो कह सकते है । इस क्रियापद का मूल अर्थ है मिलाना । मिलाने के लिए छोड़ना आवश्यक हुआ । अनुमान से एक परम्परा मे मेलयति से निकले हुए शब्द का प्रयोग रूढ हो गया केवल उस मिलाने तक जिसमे छोडने का काम किया जाता है । और फिर केवल छोड़ने--डालने का अर्थ देने लगा । आगे चलकर इसमें कई अर्थभेद हुए । चलते समय पाँव पृथ्वी पर डाले जाते है, इसलिए उसका अर्थ हुआ 'चलना ।' जैसे धनुष से बाण छोडे जाते है वैसे ही लक्षणा से दूत छोडना भी कहा जा सकता है । इससे 'मेल्हइ' हो गया भेजना । भूलने में व्यक्ति हृदय से छोड़ दिया जाता है, इसलिए उसका अर्थ हुआ भूलना । माला पहनाने में डालने का काम करना पड़ता है । माला गले में डाली जाती है, इसलिए मैले का अर्थ हो गया पहनना या पहनाना । किन्तु सब प्रकार का पहनना पहनाना नही । माला पहनाने मे डालने का काम करना पड़ता है । इसी से हिंदी में माला पहिनाने के स्थान पर माला डालना या दुपट्टा डालना भी कहते है [illegible] इसी [illegible] माला [illegible] भी प्रयोग हुआ । भूला भी माला के समान अं[illegible]तिम रूप में पेड़ की ए[illegible] [illegible]र डाला जाया करता था । वैसे ही जैसे गले में माला डाली जाती है [illegible] अब भूला डालने के कई तरीके हो गये है, पर है फिर भी वह भूला डालन[illegible] ही । किसी पर आघात करने में भी डालने

१—साहस का सस्कृत मे भी अच्छा अर्थ होता है । सहसा होनेवाली घटना साहस कहलाती है । डकैती आदि ऐसी ही घटनाएं है । किंतु तत्त्व-ज्ञान [illegible] परमानुभूति [illegible] [illegible] [illegible] सिद्धात [illegible] [illegible] [illegible] प्रारंभिक तैयारी आवश्यक नही समभी जाती । गुरु अथवा भगवान की दयादृष्टि से वह अचानक किसी समय आ उपस्थित होती है । इसलिए शैव-मत मे परमानुभूति 'साहस' कही जाती है । [लेखक]

की क्रिया की जाती है, इसलिए मारने के अर्थ में भी उसका प्रयोग मिलता है---'ले मुदिगर की सिर मे मेलै।"

इस प्रकार संस्कृत में इसका अर्थ था मिलाना। मिलाने के लिए आवश्यक हुआ छोडना---डालना इसलिए इसका अर्थ सकुचित हो गया केवल उस मिलाने तक जिसमें 'छोडना' डालना आवश्यक होता है और फिर उसका अर्थ ही हो गया---छोडना, डालना। यहाँ तक है अनुमान प्रमाण। आगे है प्रत्यक्ष प्रमाण। अपभ्रंश मे जो उदाहरण मिलता है, उसका अर्थ है छोडना। राजस्थानी मे भी इसका यह अर्थ है। छोडना क्रिया में भेजने का भाव भी विद्यमान रहता है जैसे बाण छोडना। इसलिए हमे उसका राजस्थानी में भेजना के अर्थ में भी प्रयोग मिलता है। कोई चीज जब डाली जाती है तो पृथ्वी पर पडती है, गिरती है। इस डालने की क्रिया से रखने का अर्थ निकला पॉव मेल्हा। परन्तु प्रधान अर्थ इसका छोड़ना ही रहा। बधन मे आये हुए प्राणी का मुक्तीकरण भी छोडना ही हुआ अत. गढवाली में बँधे हुये पशु को मुक्त करना 'मेल्णो' हो गया। किंतु इस मुक्त करने से वास्तविक कार्य जो किया जाता है वह है जेवरी की घुडी खोलना। अतएव मेलना का अर्थ हो गया जेवरी खोलना। इसी से गाँठ खोलना भी उसका अर्थ हो गया। फिर जेवरी की घुडी नही, वरन् हर प्रकार की गाँठ खोलना 'मेल्णो' हो गया। इस प्रकार अब गढ़वाली भाषा मे 'मेल्णो' का अर्थ हो गया सब प्रकार के बधनों को खोलना जिसमें घुडी या गाँठ खोलनी पड़े।

हिंदी काव्य की निरंजन-धारा

[आल इंडिया ओरिएंटल कान्फरेंस (अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन) के दसवें (तिरुपति) अधिवेशन में २२ मार्च १९४० ई० को हिंदी विभाग के अध्यक्ष के पद से दिया गया भाषण ।]

आजकल तो हम हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के संबंध में केवल जबानी जमा-खर्च कर रहे हैं । किंतु प्राचीन काल में वह सचमुच किसी सीमा तक अंतर्प्रांतीय विचार-विनिमय की भाषा हो गई थी। श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन* के अनुसार, पूर्व मुगलों के शासन-काल तक "हिंदी पहले ही समस्त भारत की सामान्य भाषा (लिंगुआ फ्रैंका) हो चली थी।" के० एम्० झावेरी† के शब्दों में मध्ययुगीन गुजरात में हिंदी "सु-संस्कृतों और विद्वानों की मान्य भाषा थी।" उन दिनों वहाँ के कवियों में हिंदी में कविता लिखने की प्रथा सी चल पड़ी थी । यहाँ तक कि १६ वीं शताब्दी के कवि परमानंद ने भी, जिन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से गुजराती में उत्तम श्रेणी के साहित्य-निर्माण का प्रयत्न किया, अपना साहित्यिक जीवन हिंदी-पद्य-रचना से ही आरंभ किया था और अपने पुत्र वल्लभ को भी गुजराती में लिखते समय हिंदी की आत्मा का अनुगमन करने का आदेश दिया था।‡ महाराष्ट्र में चक्रधर (जिनका आविर्भाव काल १३ वीं शती बतलाया जाता है), ज्ञानदेव और नामदेव, जो १४ वीं शती में हुए थे, तथा इनके बाद एकनाथ और तुकाराम सरीखे ऊँची पहुँच के संत अपने उपास्य देव के प्रति अपने हृदय के सच्चे भावों को यदा-कदा हिंदी में भी व्यक्त करना उचित समझते थे।+ १६३७ में विद्यमान बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह तक ने संगीत पर अपनी 'नव रस'

---

*—सेन-हिस्टरी आव् दि बेंगाली लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर, पृ० ६०० ।

†—के० एम्० झावेरी—माइल स्टोन्स आव् गुजराती लिटरेचर, पृ० ६६ ।

‡—के० एम्० झावेरी—माइल स्टोन्स आव् गुजराती लिटरेचर, पृ० १२५ ।

+ —भाले राव— कोशोत्सव स्मारक संग्रह, ना० प्र० सभा, पृ० ९२-९८ ।

नामक रचना हिंदी में लिखी। गोलकुंडा के मुहम्मद कुली कुतुबशाह (राज्य-काल १५१६ ई० -१५५० ई०) ने, जो दक्कनी हिंदुस्तानी का प्रथम कवि माना जाता है, अपनी कुछ कविताओं में हिंदी के शुद्ध रूप की रक्षा की है। किंतु व्रजबूली, जो श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन के मत में "बँगला का पूर्ण हिंदी रूप" है और जिसमें अनेक कवियो ने बहुत सुंदर, सरस पद-रचना की है, हिंदी की आत्मा का सर्वोत्तम अभिनंदन है। इस मिश्री तुल्य मिश्रित भाषा में लिखी हुई कवि गोविंददास की कविताएँ किसी भी साहित्य का गौरव बढ़ा सकती है।

किंतु यदि हिंदी का स्वयं अपना उन्नत साहित्य न होता और उसके पास महत्वपूर्ण संदेश देने को न होता तो अहिंदी प्रदेशो में उसके प्रति इतना अनुराग न होता। हिंदी के प्राचीन साहित्य का महत्व प्राय सब स्वीकार करते है। सूर और तुलसी पर केवल हिंदी को ही नहीं सारे भारत को गर्व है। किंतु खेद है कि हमारा प्राचीन साहित्य अभी पूर्ण रूप से प्रकाश में आया नहीं है। हम वर्तमान में इतने व्यस्त रहते है कि अतीत के साथ केवल मौखिक सहानुभूति दिखाकर ही रह जाते है। अवश्य ही नये उठते हुए साहित्य को प्रोत्साहन देने की बडी आवश्यकता है। किंतु इस बात की ओर हमारा बहुत कम ध्यान जाता है कि हिंदी के प्राचीन साहित्यकारो को, जिन्होने बहुमूल्य निज-स्व का दान कर अतीत में वर्तमान की गहरी नींव डाली, जगत के सम्मुख ला रखना भी उतना ही आवश्यक है। इसके बिना हिंदी के प्राचीन गौरव की तथ्यानुगत अनुभूति हो नहीं सकती। नागरी प्रचारिणी सभा की खोजो से स्पष्ट है कि सामग्री का अभाव नहीं है। हमारे साहित्य का अभी बहुत थोडा अंश प्रकाश में आ पाया है, अधिकांश अभी तक हस्तलिखित ग्रंथो के रूप में ही पडा हुआ है, और यदि उसकी रक्षा शीघ्र न की गई तो बहुत सी अमूल्य सामग्री नष्ट हो जायगी। कुछ तो नष्ट हो भी चुकी है। उदाहरणस्वरूप यहाँ मै केवल ऐसे दो ग्रंथों का उल्लेख करूँगा—एक तो कालिदास त्रिवेदी का 'हजारा' नामक हिंदी कवियो की कृतियो का संग्रह और दूसरा बेनीमाधवदास का 'गुसाईं चरित' नामक तुलसीदासजी का जीवनचरित्र। स्वयं शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' से पता चलता है कि उक्त दोनो ग्रंथ उनके समय में विद्यमान थे। पर अब वे हमारे लिए 'सरोज' में लिखे नाम भर रह गये है। स्वयं 'सरोज' इस बात का साक्षी है कि शिवसिंह सेंगर का पुस्तकालय बहुत बडा रहा होगा। यह पुस्तकालय कांथा, जिला उन्नाव, संयुक्त प्रांत में है। आज उसकी बुरी दशा सुनने में आती है। वह नष्ट होता जा रहा है और डर है कि यही

दशा एक दिन असगठित सस्थाओ तथा विभिन्न व्यक्तियो के पास पडी हुई हस्तलिखित पुस्तको की भी हो जायगी ।

इस समय की दुहरी आवश्यकता है । एक तो हस्तलिखित पुस्तको का ऐसे केन्द्रो मे संग्रह करना, जहाँ नाश के दूतो से उनकी रक्षा हो सके और खोजियो को वे आसानी से सुलभ हो जायँ और दूसरे इस प्रकार प्राप्त सपूर्ण सामग्री का यथाशीघ्र प्रकाशन ।

कुछ पुस्तकालय विद्यमान है, जिनमे हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों का सग्रह है । इन संस्थाओ के सग्रहालय भविष्य के बडे-बडे पुस्तकालयो के लिए आधार बनाये जा सकते है । इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ पुस्तकालयो का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे रायल एशियाटिक सोसायटी का पुस्तकालय, नागरी-प्रचारिणी सभा का आर्य-भाषा-पुस्तकालय और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का संग्रहालय ।

राजस्थान, मध्यभारत तथा अन्य प्रदेशो के अधिकांश रजवाडो तथा जैन उपाश्रयो और भडारो के पास अच्छे-अच्छे हस्तलिखित ग्रथो के संग्रह है । ऐसे सब पुस्तकालयो के अधिष्ठाता यदि अपने-अपने पुस्तकालयो की सूची प्रकाशित करें तथा आधुनिक ढग से अपने पुस्तकालयो का सचालन करें तो खोज के काम मे बडी सहायता हो ।

दूसरा इससे कम नही, शायद इससे अधिक महत्वपूर्ण काम है, जैसे-जैसे पुरातन ग्रथ मिलते जायँ, वैसे-वैसे उनको छपवाना । इस दिशा में पूरी शक्ति लगाकर काम करने की आवश्यकता है । अन्य साधनो के साथ-साथ इसके लिए एक बहुत उत्तम साधन होगा । 'बिब्लियोथिक का इडिका' के ढग पर एक स्थूलकाय, सुसपादित पत्रिका को नियमित रूप से चलाना, जिसके द्वारा केवल प्राचीन हिन्दी साहित्य का प्रकाशन हो । नागरीप्रचारिणी ग्रथमाला कुछ दिनो इसी ढग पर चली ।

ये कार्य बहुत बडे है । इनके लिए विविध साधन-सपन्नता की आवश्यकता है । किंतु जहा चाह होती है, वहाँ राह भी निकल ही आती है । इसलिए यदि हिंदी की सार्वजनिक सस्थाएँ पूर्ण मनोयोग से इन कामो को हाथ मे ले ले, तो उन्हे पता चलेगा कि मानव हृदय सदैव उत्साह से सत्प्रयत्नो का साथ देता है, और सदुद्देश्य की सफलता के लिए पूरी सहायता देने मे कभी पिछड़ता नही ।

भाषा तथा साहित्य दोनो के अध्ययन को अग्रगति देने के लिए ये कार्य

आवश्यक है। प्राचीन समय मे ध्वनिग्राहक यत्रो के अभाव के कारण उस समय की बोली का तो हमे ठीक ज्ञान हो नही सकता। फिर भी इन कार्यों के हो जाने से ध्वनियो की गति-विधि, अर्थ का उनके साथ साहचर्य तथा अन्य समान विषयो के सबध का पूरा हिदी क्षेत्र भाषा-शास्त्री के पर्यवेक्षण के लिए खुल जायगा और हमें यह पता लग जायगा कि हिदी की विभिन्न उपभाषाओ का किस प्रकार क्रम-विकास हुआ।

इससे हिदी साहित्य के उदय से लेकर अब तक विभिन्न भावनाओ से स्पदमान भारत के हृदय का चलचित्र भी हमारी दृष्टि मे आ जायगा, क्योकि मध्यदेश, जो लगभग आज का हिदी-भाषी प्रदेश है, देश भर में चलनेवाली अधिकाश सास्कृतिक प्रगतियो का केन्द्र रहा है। इस प्रकार अपनी सस्कृति को हिदी साहित्य की देन का भी हमे वास्तविक महत्व जान पड़ जायगा।

हिदी साहित्य के पूरे इतिवृत्त के निर्माण का कार्य भी इस प्रकार सरल हो जायगा। अभी तो हमे हिंदी साहित्य की प्रधान धाराओ का ही परिचय है। इन धाराओ की सौंदर्य वृद्धि करनेवाली विभिन्न तरगो, उपधाराओ तथा व्यत्यस्त धाराओ का, जिनके कारण साहित्य की समस्याएँ कुछ जटिल हो जाती है, अभी हमें भली भाँति परिचय नही, क्योकि इस सबंध में प्रकाश डालने वाली समस्त सामग्री अभी प्रकाश में आई नही है।

उदाहरण के लिए मै आपका ध्यान हिदी साहित्य की एक उपधारा की ओर आकृष्ट करता हूँ, जिसे हिदी साहित्य की निरजन धारा कह सकते है। जैसा नाम से ही पता चलता है, निरजन-धारा भी सिद्ध, नाथ तथा निर्गुण धाराओ की ही भाँति आध्यात्मिक धारा है।

हरिदास, तुरसीदास और सेवादास—इन तीन निरजनियो की बहुत सी बानियाँ मेरे पास है। खेमजी, कान्हडदास और मोहनदास की भी कुछ कविताएँ सग्रहो मे मिलती है। इनके अतिरिक्त मनोहरदास, निपट निरजन तथा भगवानदास का उल्लेख 'शिवसिह सरोज' ग्रियर्सन के 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर' नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-विवरणो तथा 'मिश्रबधु-विनोद' में मिलता है। पहले तीन व्यक्तियो की विस्तृत बानियो को देखने से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वे एक ही धारा के अश है। और उपर्युक्त शेष व्यक्तियो की जो कुछ कविताएँ मिलती है, उनसे इस धारणा की पुष्टि हो जाती है।

दादूपथी राघोदास ने नाभादास के 'भक्तमाल' के ढग पर अपने भक्त-

माल की रचना की, जिसकी समाप्ति वि० स० १७७०=१७१३ ई० में हुई। इसमें नाभादास के भक्तमाल में छूटे हुए भक्तो का उल्लेख किया गया है। बारह निरजनी महतो का कुछ विवरण उसमें दिया हुआ है जिनमें ऊपर आये हुए हरिदास, तुरसीदास, खमजी, कान्हडदास और मोहनदास सम्मिलित हैं। ये सब राजस्थानी हैं।

इनमें समय की दृष्टि से सबसे पहला ग्रथकार हरिदास जान पडता है। राघोदास ने हरिदास को प्रागदास का शिष्य बतलाया है, जिसे छोडकर बाद को वह गोरखपथी हो गया। सुदरदास ने भी—जो प्रागदास का बडा सम्मान करते थे और जिन्हें वे व्यक्तिगत रूप से* भली भाँति जानते थे—हरिदास की गणना गोरखनाथ, कथडनाथ और कबीर आदि की भाँति बड़े गुरुओ में की है।† इससे यह जान पड़ता है कि सभवतः हरिदास ने प्रागदास से दीक्षा ली थी। सुदरदास के उल्लेख करने के ढग से तो ऐसा भी ध्वनित होता है कि हरिदास कदाचित दादू (जिनका जन्म १५४४ ई० में हुआ था) से भी पहले हुए। श्रीयुत जगद्धर शर्मा गुलेरी के कथन की भी इससे पुष्टि होती है, जिनके मतानुसार हरिदास ने १५२० और १५४० ई० के बीच अनेक ग्रन्थो की रचना की। अपने पथ में हरिदास हरिपुरुष कहे जाते हैं।

श्री गुलेरी के अनुसार इनके ग्रथो के नाम ये हैं—

(१) अष्टपदी जोग ग्रथ
(२) ब्रह्मस्तुति
(३) हरिदास ग्रथमाला
(४) हसप्रबोध ग्रथ

---

*—पुरोहित हरिनारायण जी—सुदरदास-ग्रथावली, भूमिका पृ० ७८।

†—"कोउक गोरष कूँ गुरु थापत, कोउक दत्त दिगंबर आदू,
कोउक कथर कोउक भर्थर, कोई कबीरा के राखत नादू।
कोउ कहै हरदास हमार जु, यूँ करि ठानत बाद बिबादू,
और सुसत सबै सिर ऊपर, सुदर के उर है गुर दादू॥"
(पीताबर जी द्वारा सपादित सुदर-विलास—१-५)

दूसरे स्थान पर सुदरदास उनका उल्लेख असत् से आध्यात्मिक युद्ध करने में लगे हुए योद्धा के रूप मे करते है—

"अगद भुवन परस हरदास ज्ञान गह्यो हथियार रे।"
(पीताबर जी द्वारा सपादित सुदर-विलास, पृ० ७५०)

(५) निरपखमूल ग्रंथ
(६) राजगुंड
(७) पूजा जोग ग्रंथ
(८) समाधि जोग ग्रंथ और
(९) संग्राम जोग ग्रंथ

मेरे सग्रह में हरिदास की साखी और पद है। हरिदास डीडवाना में रहते थे। राघोदास ने इनकी बडी प्रशसा की है। कहा है—हरिदास निराश, इच्छाहीन, तथा निरतर परमात्मा में लीन रहनेवाले थे। परमात्मा को इन्होंने अपने मन, वचन और कर्म से प्रसन्न कर लिया था। किंतु यह कुछ क्रोधी स्वभाव के भी जान पडते है। स्वय राघो ने इन्हें क्रोध में रुद्र—'हर ज्यूँ कहर'—कहा है। टीका मे इनके पीपली, नागोर, अजमेर, टोडा और आमेर जाने का भी उल्लेख है और इनके चमत्कारो का भी वर्णन है।

गोरख तथा कबीर की वाणियो स यह विशेष प्रभावित हुए थे। इन्होंने इन दोनो की बदना की है। गोरख को तो यह अपना गुरु मानते थे।

इनकी रचना बड़ी समर्थ होती थी। इन्होंने सिद्धो तथा जैनो की तीखी आलोचना की है। परमात्मा का इन्होंने नाथ और निरजन दोनो नामो से गुणगान किया है।

तुरसीदास* ने बड़ी विस्तृत रचना की है। मेरे संग्रह में आई हुई इनकी विपुल वाणियो का विस्तार इस प्रकार है—४२०२ साखी, ४६१ पद, ४ छोटी छोटी और रचनाएँ और थोडे से श्लोक तथा शब्द हैं। चार छोटे ग्रथ ये है—

(१) ग्रथ चौअक्षरी
(२) करणीसारजोग ग्रंथ
(३) साध सुलच्छिन ग्रंथ और
(४) ग्रथतत्त्व गुण भेद

तुरसीदास बडे विद्वान् थे। इन्होंने अपनी साखियो के विभिन्न प्रकरणो में ज्ञान, भक्ति और योग का विस्तृत तथा सुगठित वर्णन किया है। ये निरंजन पथ के दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादक, आध्यात्मिक जिज्ञासु तथा रहस्यवादी उपासक थे। निरंजन-पथ के लिये तुरसीदास ने वही काम किया जो दादू-पथ के लिए सुन्दरदास ने। राघोदास ने इनकी वाणियो की प्रशसा उचित ही की है—"तुरसी जू बाणी नीकी ल्याए है।"

---

*—तुरसीदास के बिस्सृत विवेचन के लिए देखिये। डा० भगीरथ मिश्र कृत "सत तुरसीदास निरजनी।"

यह भी सभव हो सकता है कि राघो का तात्पर्य यहाँ रचनाओ से न होकर तुरसी की आवाज से ही हो । 'ल्याए है' क्रिया कुछ इसी ओर सकेत करती जान पडती है ।

राघो के अनुसार तुरसी को सत्यज्ञान की प्राप्ति हो गई थी और अन्य सब वस्तुओ* से उनका मन हट गया था । राघो ही के अनुसार तुरसी के अखाडे मे करणी को शोभा दिखाई देती है ।† तुरसी शेरपुर के निवासी थे ।

नागरीप्रचारिणी सभा की खोज में तुरसीदास की वाणी की एक हस्त-लिखित प्रति का उल्लेख हुआ है जिसमे इतिहास समुच्चय' की प्रतिलिपि भी सम्मिलित है । 'इतिहास समुच्चय' के अन्त में लिखा है कि उसकी प्रतिलिपि वि० स० १७४५ (१६८८ ई०) मे ऊधोदास के शिष्य लालदास के शिष्य किसी तुरसीदास ने की थी ।‡ यदि यह प्रति तुरसी ही के हाथ की लिखी है और ऐसी कोई बात है नही जिससे उसका तुरसी का लिखा होना अप्रामाणिक हो, तो हमे तुरसी का समय मिल जाता है । राघोदास ने इनका उल्लेख वर्त-मान काल की क्रिया के रूप में किया है । और जान पडता है कि राघोदास के भक्तमाल के लिखे जाने के समय तक ये काफी बूढे हो चुके थे, क्योकि उस समय तक वे अपने आध्यात्मिक ज्ञान के कारण प्रसिद्ध हो गये थे। इससे भी विदित हो जाता है कि उनका सवत् १७४५ वि० में महाभारत के एक अश की प्रतिलिपि करना असम्भव नही । इस प्रकार ये तुरसी, प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदास से छोटे, किन्तु समसामयिक ठहरते है ।

मोहनदास, कान्हड और खेमजी भी बड़े अच्छे कवि थे और अध्यात्म-मार्ग में उनकी बडी पहुँच थी । तीनो महत थे— मोहनदास देवपुरा के, कान्हड चाटसू के और खेमराज शिवहड़ी के ।

---

*—"तुरसी पायो तत्त ग्यान सों भयो उदासा"—१४३ ।
"तुरसीदास पायो तत्त नीकों बनि आई है"—१४४ ।

†—"राघो कहै करणी जित शोभित देषौ है दास तुरसी को अषारौ'—१५३ ।

‡—इति श्री महाभारथे इतिहास समुच्चये तैतीसमो अध्याय ।। ३३ ।। इति श्री महाभारथे संपूर्ण समाप्त । सबत् १७४५ वृषे मास कार्तिक सुदी ७ बार सनीत्रासरे ।। नगर गंधार सुथाने सुभमस्तु लिखत स्वामी जी श्री श्री श्री श्री १०८ ऊधोदास जी को शिष्य स्वामी जी श्री श्री श्री श्री १०८ श्री श्री लालदास जी कौ सिष्य तुलसीदास बाँचे जिसको राम-राम ।

कान्हड़दास इतने बड़े संत थे कि राघोदास उन्हें अंशावतार समझते थे। राघोदास के कथनानुसार कान्हड़दास इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर चुके थे। वे केवल भिक्षा मे मिले अन्न ही का भोजन करते थे। यद्यपि उनको बड़ी सिद्धि तथा प्रसिद्धि प्राप्त थी, किन्तु उन्होने अपने लिए एक मढी तक न बनवाई। वे 'अति भजनीक' थे और राघोदास का कहना है कि उन्होने अपनी 'संगीत के सब ही निसतारे' थे (पृ० १४०)। ये तीनो— मोहनदास, कान्हड़ और खेमजी—निश्चय ही राघोदास (वि० स० १७७०=१७१८ से पहले हुए हैं।

सेवादास ने भी विस्तृत रचना की है। मेरे सग्रह में आई हुई उनकी 'बानी' मे ३५६१ साखियाँ, ४०२ पद, ३९९ कुडलियाँ १० छोटे ग्रथ, ४४ रेखता, २० कवित्त और ४ सवैये है।

वे सीधे हरिदास निरजनी की परम्परा मे हुए। सौभाग्य से इनकी पद्यबद्ध जीवनी भी 'सेवादास परची' के नाम से उपलब्ध। है इनके चेले (अमरदास) के चेले रूपदास ने उसकी विक्रम सवत् १८३२ (ई० सन् १७९५) में वैशाष कृष्ण द्वादशी को रचना की। रूपदास के कथनानुसार सेवादास की मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण अमावस को, सवत् १७९२ वि० मे हुई थी। कबीर को इन्होने अपना सतगुरु माना है। परची उनके चमत्कारो से भरी पड़ी है, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं।

भगवानदास निरंजनी ने, जो नागा अर्जुनदास के चेले थे, निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है—

(१) प्रेम पदार्थ

(२) अमृतधारा

(३) भर्तृहरि शतक भाषा

(४) गीता माहात्म्य (१७४० वि०)

(५) कार्तिक माहात्म्य (१७४२ वि०)

(६) जैमिनि अश्वमेध (१७५५ वि०) कोष्टको में दिये हुए सवत् स्वय ग्रन्थो से लिये गये है।

निपट निरजन का जन्म 'शिवसिंह सरोज' में [illegible] संवत् १६५० वि० (१५९३ ई०) में हुआ था। शिवसिंह ने इसे [illegible] को रचना का सन माना है। सम्भवतः इनकी जन्मतिथि के अनुमान का आधार शिवसिंह के पास के इनके किसी ग्रथ का रचना काल है। शिवसिंह के पास इनके शांतरस

वेदान्त' और 'निरंजन संग्रह' दो ग्रंथ थे । इनमें से पहला अब तक शिवसिंह के एक वंशधर के पास है, किंतु उसके अंतिम पृष्ठ अब नष्ट हो गये हैं । साहित्य के इतिहासो में निपट निरजन के नाम से दी गई 'सत-सरसी' नामक रचना यथार्थ में 'शातरस वेदात' ही है । यह नाम परिवर्तन की भूल स्वयं 'शिवसिह सरोज' में ही (कम से कम जिस रूप में वह छपा है) किसी भाँति आ गई थी (सरोज पृ० ४३८) ।

मनोहरदास निरजनी ने 'ज्ञानमजरी', 'ज्ञान वचनचूर्णिका' तथा 'वेदात भाषा' की रचना की है । पहली* सवत् १७१६ वि० में बनी थी और अंतिम की रचना भी कदाचित् इसी समय के आस पास हुई ।

इन सब कवियो ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को सरल और स्वाभाविक सौंदर्यमय गीतो में निकास दिया ह । ये गीत बडे ही चित्ताकर्षक हैं । इन कवियो मे से कुछ तो, जिनकी विस्तृत वाणियो का अध्ययन मैंने किया है, इस बात का दावा करते है कि वे साधना की चरम अवस्था पर पहुँचकर आत्म-दर्शन कर चुके थे । निरजनियो में भी इस अनुभूति तक पहुँचने का मार्ग निर्गुणियो की ही भाँति उलटा मार्ग या उलटी चाल कहाता है । मन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियो को—जो जीव को ससारिक बधन मे डालने का कारण होती है—अतर्मुखी करना उनके अनुसार, परम आवश्यक है । दूसरे शब्दो में, सचार की प्रक्रिया को प्रतिसचार में परिणत कर देने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है । इसलिए हरिदास ने उलटी नदी बहाने को कहा है† और सत्य के खोजी को उलटा मार्ग पकड़ने का उपदेश दिया है ।‡ सेवादास के अनुसार अलख को पहचानने के लिए उलटा गोता लगाना आवश्यक है । ऐसा करने से आत्मा धीरे-धीरे गुण, इद्रिय, मन और वाणी से अपने आप परे हो जायगी + और तुरसी कहते है कि जब साधक उलटा अपने भीतर की ओर लौटता है तभी वह अध्यात्म-मार्ग से परिचित होता है ।×

---

*—"सवत सत्रह सै माही वर्ष सोरहे माहि ।
वैशाख मासे शुक्ल पक्ष तिथि पूनो है ताहि ।।"

†—"उलटी नदी चलाएगे"—पृ० २५ ।

‡—"उलटा पथ सँभालि पथी सति सबद सतगुरु कहै ।"

+—"सहजि सहजि सब जाहिगा गुण यद्री मन बाणि ।
तूँ उलटा गोता मारि करि अतरि अलख पिछाणि ।"

×—"जब उलटा उर अंतर माही आवै, तब भल ना मथ (?ग) की सुधि पावै ।"

निरंजनियो का यह उलटा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनप्राणित योग-मार्ग के ही समान है। निर्गुणियो की सारी साधनापद्धति उसमें विद्यमान है। निरजनियो का उद्देश्य है ईड़ा और पिगला के मध्यस्थित सुषुम्णा को जागरित कर अनाहत नाद सुनना, निरंजन के दर्शन प्राप्त करना तथा बकनालि के द्वारा शून्यमडल में अमृत का पान करना। जो साँच की डोरी* उन्हें परमात्मा से जोड़े रहती है, वह है नामस्मरण। नामस्मरण में प्रेम और योग का समन्वय है। साधक को उसमें अपना सारा अस्तित्व लगा देना होता है। साथ ही त्रिकुटी-अभ्यास का भी विधान ह, जो गोरख-पद्धति तथा गीता की भ्रूमध्य-दृष्टि के सदृश है। इस साधना-पद्धति पर—जिसमें सुरति अर्थात् अतर्मुखी वृत्ति, मन तथा श्वास-निश्वास को एक साथ लगाना आवश्यक होता है—निरजनियो ने बार बार जोर दिया है। इसकी अतिम अवस्था अजपा जप है, जिसमें श्वास-प्रश्वास के साथ स्वत सतत नाम-स्मरण होने लगता है।

निरंजनी कविता में प्रेम-तत्व का महत्व योग-तत्त्व से किसी भी मात्रा में कम नहीं है। इद्रियो का दमन नहीं, वरन् शमन आवश्यक है। और शमन में प्रेम-तत्त्व ही से सफलता प्राप्त होती है। इस तत्त्व की अवहेलना करने वाले साधको को हरिदास ने खूब फटकारा है।† प्रेमातिरेक से विह्वल होकर जब जीव (पत्नी की भाँति) अपनी आत्मा को परमात्मा (अपने पति) के चरणों में नि.स्वार्थ भाव से अर्पित कर देता है तभी (प्रियतम परमात्मा से) महामिलन होता है।‡ इन सब निरजनी कवियों ने प्रिय के विरह से

---

*—"सुमिरण डोरी साँच की सतगुरु दई बताय।"—सेवादास।

†—"पाँच राषि न पेम पीया दसौ दिसा कूँ जाहिं।
देषि अबधू अकलि अधा अजहूँ चेतै नाहिं॥"

‡—"मै जन बाँध्यो प्रीति सूँ · · · ···
निकट वसौ न्यारा रहौ एक मदिर माहि माधवे।
मै मिलिहै कै तन तजौ अब मोहि जीवण नाहि माधवे।
प्राण उधारण तुम मिलौ
अबला भनि व्याकुल भई, तुम क्यो रहे रिसाइ माधवे॥"—हरिदास।
"सुरति सुहागणि सुदरी, बस्यौ ब्रह्म भरतार।
आन दिसा चितवे नही, साधि लियो करतार॥"

—सेवादास।

दुखी प्रिया की भाँति अपने हृदय की व्यथा प्रकट की है।* तुरसीदास के अनुसार यही प्रेम-भावना प्रत्येक आध्यात्मिक साधना-पथ की प्राण होनी चाहिए। इसके विद्यमान रहने से प्रत्येक मार्ग सच्चा है, किंतु इसके अभाव में हर एक पथ निस्सार है।†

निरजनियो ने अपरोक्षानुभूति का वर्णन निर्गुणियो की ही सी भाषा में किया है। सफल साधना-मार्ग के अत में साधक को अनत प्रकाश-पुज की बाढ़ सी आती दिखाई देती है, जो 'जरणा' के द्वारा स्थिरता ग्रहण करने पर शीतल, झिलमिल ज्योति के रूप में स्थिर हो जाती है। इस सहजानुभूति के हो जाने पर सभी बाहरी विरोध मिट जाते हैं। स्वयं यह अनुभूति भी उलटी या स्वविरोधी शब्दावली में ही व्यक्त की जा सकती है। हरिदास के कथनानुसार गुरु शिष्य की अतर्ज्योति को अनत सूर्यों के प्रकाश से मिला देता है।‡ सेवादास झिलमिलाती ज्योति का दर्शन त्रिकुटी मे करते है।+ इन्ही के शब्दो मे× सहजानूभूति बिना घन के चमकने वाली बिजली है, बिना हाथ के बजने वाली वीणा है, बिना बादलो के होने वाली अखंड वर्षा है। और तुरसी के शब्दो में आध्यात्मिक अनुभूति बहरे का ऐसी गुप्त बात सुनना है जिसमे जिह्वा तथा मुँह काम में नही आते। वह लँगड़े का ऐसे पेड़ पर चढने

---

*—"अतरि चोट विरह की लागी, नष सिष चोट समाणी।"—हरिदास।
"कोउ बूझौ रे बाँभना, जोसी कहि कब आवे मेरा राम।
बिरहिन झूरै दरस कूँ, जिय नाही विश्राम।।
ज्यूँ चात्रिग घन कूँ रटै पीव पीव करे पुकार।
यूँ राम मिलन कूँ बिरहिनी तरफै बारम्बार।।"
—तुरसीदास।

†—"प्रेम भक्ति बिन जप तप ध्यान, रूखै लागै सहत विग्यान।
तुरसी प्रेम भक्ति उर होय, तब सबही मत साँचे जोय।।"
—तुरसी।

‡—"अनत सूर निकट नूर जोति-जोति लावै।"

+—"नैना माही राम जी झिलमिल जोति प्रकास।
त्रिकुटी छाजा बैठि करि को निरखै निज दास।।"

×—"बिन घन चमकै बीजली तहाँ रहे मठ छाय।
हरि सरवर तहाँ षेलिए जहँ बिण कर बाजे बीणा।।
बिन बादरा वर्षा सदा, तहाँ बारा मास अखड।"

की भाँति है जिस पर पैर वाले नही चढ सकते । वह अँधे के प्रकाश को देखने के समान है ।*

उपर्युक्त सभी बातो में निर्गुणियो और निरजनियों में साम्य है। इसीलिए राघोदास ने निरजनियो को कबीर के से भाव का बतलाया है। किंतु फिर भी उन्होने इन्हे कबीर, नानक, दादू, आदि निर्गुणी संतों में नहीं गिनाया है और उनका एक अलग ही सप्रदाय माना है। इसका कारण यही हो सकता है कि निर्गुणियों और निरंजनियो में इतना साम्य होते हुए भी कुछ भेद अवश्य है।

कबीर ने स्थूल पूजा-विधानो का तथा हिंदुओ की सामाजिक वर्णव्यवस्था का एकदम खडन किया है। निरजनियो ने भी मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकाड का परमार्थ दृष्टि से विरोध किया है अवश्य, किंतु अपने समान ज्ञान की उच्च अवस्था तक न पहुँच सकने वाले साधारण श्रेणी के व्यक्तियों के लिए इन बातो की आवश्यकता भी उन्होने समझी है। इसीलिए हरिदास ने अपने चेलो को मदिरो से वैर अथवा प्रीति रक्खे बिना ही गोविद की भक्ति करने का आदेश किया है।† तुरसी मूर्त से अमूर्त की ओर जाने के लिए 'अमूरति' को 'मूरति' में देखना बुरा नहीं समझते‡ और आचार का भी आखिर कुछ महत्त्व समझते है।+ यद्यपि निरजनी वर्णाश्रम-धर्म को, यदि तुरसी के शब्दो में कहें तो, शरीर का ही धर्म मानते है, आत्मा का नहीं; फिर भी ऐसा भी नहीं जान पड़ता कि परपरा से चली आती हुई वर्णाश्रम-धर्म की इस व्यवस्था से उन्हें वैर है। यद्यपि वे यह अवश्य चाहते है कि

---

*—"बहरा गुझि बानी सुनै सुरता सुनै न कोय।
तुरसी सो बानी अघट मुख बिन उपजै सोय॥
पग उठि तरवैर चढै सपगै चढ्या न जाय।
तुरसी जोती जगमगै अन्धे कूँ दरसाय॥"

†—"नहि देवल स्यू बैरता, नहि देवल स्यौ प्रीति।
किरतम तजि गोविद भजौ, यह साधाँ की रीति॥"

‡—"मूरति मैं अमूरति बसै अमल आतमाराम।
तुरसी भरम बिसराय कै ताही कौ लै नाम॥"

+—"जाके आचारहु नही, नहि विचार अह लेस।
उभै माहि एक हू नही, तौ धृग-धृग ताकौ बेस॥"

संसार एक परिवार की भाँति रहे और वर्ण भेद ऊँच-नीच के भेद-भाव का आधार न बनाया जाय ।*

निरंजनी इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण रामानन्द, नामदेव इत्यादि प्राचीन संतो के समकक्ष हो जाते है । बिठोवा की मूर्ति के सम्मुख घुटने टेक कर नामदेव निर्गुण निराकार परमात्मा के भजन गाया करते थे ।† और कहा जाता है कि रामानन्द ने तीर्थो तथा मूर्तियो को जल-पखान मात्र बतलाते हुए भी शालिग्राम की पूजा का विधान किया था । सभवत' यही प्रवृत्ति अत म भगवानदास निरजनी कृत 'कार्तिक माहात्म्य,' 'जैमिनि अश्वमेध' सदृश पौराणिक ढग के ग्रन्थो मे प्रतिफलित हुई ।

निरंजन पथ में प्रेम तथा योग-तत्व संभवतः रामानन्द या उन्ही के सदृश किसी सत से आये है । ये प्रेम तथा योग-तत्व कबीर, रैदास और पीपा इत्यादि रामानन्द के प्राय. सब शिष्यो की बानियो मे पाये जाते है, इसलिए इनका मूल स्रोत गुरु में ही ढूँढना चाहिए । इस बात का समर्थन रामानंद कृत कहे जानेवाले 'ज्ञान-तिलक' और 'ज्ञान-लीला' नाम के छोटे ग्रंथों से तथा 'सिद्धातपटल' से भी होता है, जिसके अनुसार, राघवानन्द ने रामानन्द को जो उपदेश दिये है उन में योग का निश्चय रूप से समावेश है ।‡ महाराष्ट्री जनश्रुतियों में रामानन्द का सम्बन्ध ज्ञानदेव के नाथपथी परिवार से जोडा जाता है । अपने को नाथपथी बतलाने वाले उद्धव और नयन भी रामानन्द के शिष्य अनंतानन्द के द्वारा रामानन्द से अपनी परम्परा आरम्भ करते है ।

नाभादास जी ने रामानन्द के बारहो शिष्यों को दशधा भक्ति का 'आगर'

---

*—"तुरसी बरणाश्रम सब काया लौ सो काया करम को रूप ।
करम रहत जे जन भए, ते निज परम अनूप ।।"
जन्म नीच कहिए नही, जौ करम उत्तम होय ।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोय ।।"—तुरसी ।
"जनम बह्मन भए का भयौ करत कृत चडार ।
बहुरि पिंड परै होयगा, सुद्र घरहु अवतार ।।
हिंदू तुरक एक कल लाई । राम रहीम दोइ नहि भाई ।।"—हरिदास ।

†—फर्कुहर-आउटलाइन्स आव् दि रेलिजस लिटरेचर इन इंडिया, पृ० ३०० ।

‡—"शब्दसरूपी श्री गुरु राघवानद जी ने श्री रामानंद जी कूँ सुनाया ।
भरे भडार काया बाढै त्रिकुटी स्थान जहाँ बसे—श्री सालिग्राम ।"
—अमरबीज मत्र १७ ।

कहा है । किंतु यदि तुरसीदास ने अपनी वाणी में स्पष्ट रीति से इसकी व्याख्या सी न की होती तो दशधा भक्ति से क्या अभिप्राय है, हम यह भी न समझ पाते । इस व्याख्या को सक्षेप में यहाँ पर दे देना अनुचित न होगा ।

इस व्याख्या में तुरसीदास ने सगुणी नवधा भक्ति को अद्वैत दृष्टि के अनुकूल एक नवीन ही अर्थ दे दिया है । श्रवण* कोर्तन और स्मरण† तो निर्गुणपक्ष में भी सरलता से ग्रहण किये जा सकते है । इसके अतिरिक्त तुरसी के अनुसार पाद-सेवन‡ हृदय-कमलस्थित ज्योति-स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करना है; अर्चन+ समस्त ब्रह्माड में ॐ का प्रतिरूप देखना है, वदन× साधु गुरु और गोविन्द दोनो को एक समझ कर उनकी वंदना करना है, दास्य☸ भक्ति हरि, गुरु और साधु को निष्काम सेवा करना है, सख्य÷ भक्ति भगवान् से

---

*—"सार-सार मत स्रवन सुनि, सुनि राषे रिद माहि ।
ताही कौ मुनिवौ सुफल, तुरसी तपनि मिराहि ॥"

†—तुरसी ब्रह्म भावना यहै, नॉव कहावै सोय ।
यह सुमिरन सतन कह्या, सार भूत मंजोय ॥"

‡—"तुरसी तेजपु ज के चरन वे हाड चाम के नाहि ।
वेद पुराननि बर्रनिए रिदा कँवल कै माहि ॥"

+—"तुरसी प्रतिमा देपि कै पूजत है सब कोय ।
अदृसि ब्रह्म कौ पूजिबौ कहौ कौन विधि होय ॥
तुरमिदास तिहूँ लोक मै प्रितमा (प्रतिमा) ॐकार ।
बाचक निर्गुन ब्रह्म कौ बेदनि बरन्यौ सार ॥"

×—"गुरु गोविद सतनि विपै अभिन भाव उपजाय ।
मगल सू बदन करै तौ पाप न ग्हई काय ॥"

☸—"तुरमी बनै न दास कूँ आलस एक लगार ।
हरि गुरु साधू सेव मै लगा रहै एकतार ॥
तुरसी निहकामी निज जनन की निहकामी होय सोय ।
सेवा निति किया करै फल वासना जू षोय ॥"

÷—"बर्गवैरी को भाव न जानै, गुन औगुन ताको कछू न आनै ।
अपनौ मित जानिवौ राम, ताहि समरपै अपना धाम ॥
तुरसी त्रिभुवन नाथ कौ सुहृत सुभाव जु एह ।
जेनि केनि ज्यू भज्यो जिनि तैसे ही उधरे तेह ॥"

बराबरी का अभिमान न होकर सब मार्गों से गोविन्द की प्राप्ति हो सकने के विश्वास के साथ भगवान् को मित्र समझने की भावना है और आत्मनिवेदन* दैन्य का भाव है। तुरसी का कथन है कि यह नौ प्रकार की भक्ति सगुण नवधा भक्ति से भिन्न है और जीव को प्रवृत्तिमार्ग की ओर न ले जाकर निवृत्ति-मार्ग की ओर ले जाती है।† इस नवधा भक्ति का सिद्धि होने पर उसके उपरान्त सर्वश्रेष्ठ प्रेमा-भक्ति‡ की प्राप्ति होती है, और इस प्रकार नाभादास जी की दसधा संज्ञा की सार्थकता प्रकट होती है।

जो थोडा सा समय मेरे लिये प्रयोजित था उसके भीतर अन्य बातो के साथ मैंने निरंजनी धारा की हिंदी साहित्य को क्या देन है, इसकी रूप-रेखा-मात्र दिखाने का प्रयत्न किया है। कहने की आवश्यकता नही कि ऐसे सतो के हृदय से निकली हुई सहज, निर्मल भावधारा से हिंदी साहित्य खूब संपन्न हुआ है, जिसके फलस्वरूप मध्ययुग में हिंदी एक प्रकार से उत्तर भारत की आध्यात्मिक आदान-प्रदान की भाषा बन गई। अतएव इन सतो के प्रति जितनी कृतज्ञता प्रकट की जाय, थोड़ी है।

खोज से नवीन सामग्री के प्रकाश मे आने पर इस प्रकार की अन्य अतर्धाराओ के दर्शन होगे। अलग-अलग नये रचयिताओ का पता चलने से भी विभिन्न धाराओ की, और उनके द्वारा समस्त साहित्य की सपन्नता प्रकट होगी।

---

*—"तुरसी तन मन आतमा करहु समरपन राम।
जाकी ताहि दे उरन होहु छाडहु सकल सकाम॥"

†—"एक नौधा निरवरति तन एक परवरति तन जान।
तामें अतिकन रूपनी त रा करहि बखान॥"

‡—"तुरसी यह साधन भगति तर नौ सींची सोय।
तिन प्रेमा फल पाइया प्रेम मुक्ति फल जोय॥"